काव्य-कला

अर्थात्

साहित्य के अंगों और उपांगों का संक्षिप्त विवरण

संकलनकर्त्ता

गोपाललाल खन्ना, एम० ए०, बी० टी०

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९१८ [मूल्य १॥)

निवेदन

पूज्य पिताजी के साहित्यालोचन ग्रंथ का बहुत आदर हुआ। उसके अब तक पाँच संस्करण हो चुके हैं। पाँचवें संस्करण में उसकी काया बहुत बड़ी हो गई, पर साथ ही वह सर्वांग-पूर्ण हो गया। कुछ लोगों का कथन है कि इस नवीन रूप में इसका उपयोग ऊँची श्रेणी के विद्यार्थी सफलतापूर्वक कर सकेंगे; अन्य श्रेणियों के विद्यार्थियों के लिए यह इतना उपयोगी नहीं सिद्ध होगा। इस अवस्था में यह उचित समझा गया कि इसका एक संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित किया जाय, जिसमें इस शास्त्र के सब अंगों और उपांगों का विवेचन तथा निरूपण तो हो, पर साथ ही वे अंश निकाल दिये जायँ जो कुछ जटिल तथा खंडन-मंडनात्मक है। मैंने ऐसा करने का साहस किया है। अब इस ग्रंथ की काया लगभग आधी कम हो गई है। हाँ, यह आवश्यक है, जहाँ विषय को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता हो वहाँ बड़े संस्करण से सहायता लेनी चाहिए।

एक वर्ष से अधिक हुआ जब यह संकलन एक व्यक्ति-विशेष के अत्यंत आग्रह पर तैयार किया गया था, पर उनकी रहस्यमयी

लीला के व्यापार से यह अब तक खटाई में पड़ा रहा। इस व्यापार पर प्रकाश किसी उपयुक्त समय पर डाला जायगा।

मैं प्रिय बंधु पंडित नंददुलारे वाजपेयी का अत्यंत अनुगृहीत हूँ कि उन्होंने इस संक्षेपीकरण को आद्यंत पढ़कर उचित परामर्श देने की कृपा की है।

विजया दशमी
सं० १९९७

गोपाललाल खन्ना

अध्यायों की सूची

कला
उपयोगी कला
ललित कला
वास्तु-कला
मूर्ति-कला
चित्रण-कला
संगीत-कला
काव्य-कला
पद्य
गद्य
कविता
दृश्य काव्य
श्रव्य काव्य
उपन्यास
आख्यायिका
निबंध
मुक्तक
आलोचना
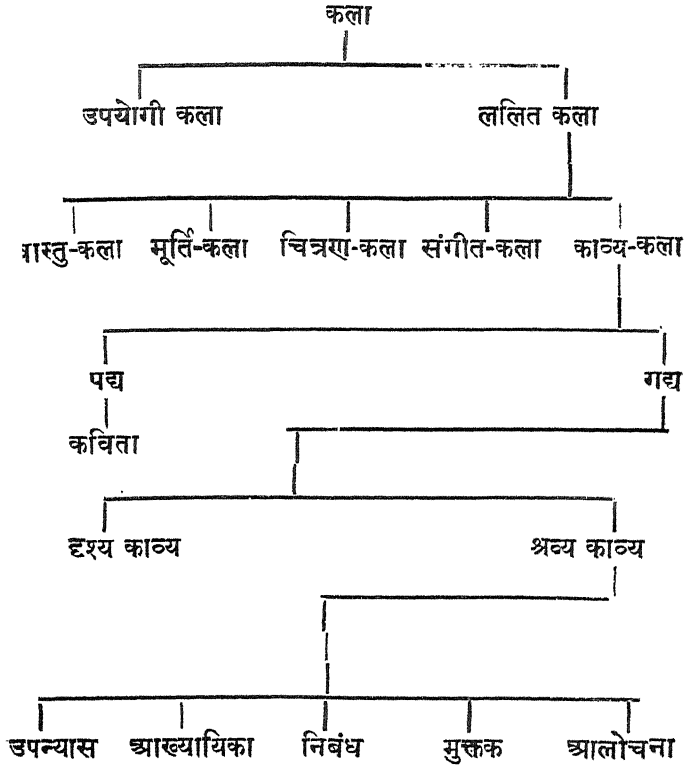
काव्य-कला

पहला अध्याय

ललित कला

मनुष्य चेतना-संपन्न प्राणी है, वह अपने चारों ओर की सृष्टि का अनुभव प्राप्त करता है। वह उसे देखता-सुनता है और उसकी छाप उसपर पड़ती है। वासना-रूप से उसमें भिन्न भिन्न वस्तुओं के छायाचित्र अंकित होते रहते हैं और तदनुकूल ही उसके संस्कार बनते रहते हैं। मानव सभ्यता का जैसे जैसे विकास होता है वैसे ही वैसे यह सृष्टि-प्रसार मनुष्य को अधिकाधिक व्यापक रूप में प्रभावित करता है। आदि काल में मनुष्य की आवश्यकताएँ थोड़ी थीं, और उसका अनुभव भी साधारण था, वह अपने आस पास जंगल-झाड़, पशु-पक्षी आदि को ही देखता था और इने-गिने पदार्थों से ही अपना काम चलाता था। उसका-क्रिया कलाप एक सीमित क्षेत्र में ही होता था। इसी लिए उसके अनुभवों की संख्या थोड़ी थी और उनका विस्तार भी

संस्कार और वृत्तियाँ

संकुचित था। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ीं और क्रमशः अधिकाधिक जीव-जगत् उसके संपर्क तथा साक्षात्कार में आया। इस संपर्क और साक्षात्कार के विस्तार के साथ मनुष्य के अनुभवों की भी वृद्धि हुई और उसकी चेतना अधिकाधिक विस्तृत तथा परिमार्जित होती गई। धीरे धीरे उसमें स्मृति, इच्छा, कल्पना आदि शक्तियों का आविर्भाव हुआ और अंत में उसमें सदसद्विवेक-बुद्धि का विकास हुआ। आरंभ में तो मनुष्य अपने आस-पास के दृश्यों से ही परिचित था और उसकी इच्छा-शक्ति भी उन्हीं तक सीमित थी। आगे चलकर वह अदृश्य तथा अश्रुत वस्तुओं की भी कल्पना करने लगा। उसकी इच्छाओं और अभिलाषाओं का क्षेत्र भी बढ़ा और साथ ही उसमें सुंदर असुंदर, सत् असत् तथा उचित अनुचित की धारणा बद्धमूल हुई। प्रारंभ में ये धारणाएँ बहुत कुछ अविकसित दशा में रही होंगी। आवश्यकता और उपयोगिता के अनुसार मनुष्य के प्रयोग-क्षेत्र में जो जो वस्तुएँ आईं उनपर उसने भले बुरे भाव का आरोप किया। समय पाकर उसके संस्कार दृढ़ होते गये, उसकी चेतना का विकास होता गया और उसकी बोधवृत्ति भी क्रम क्रम से सुव्यवस्थित तथा परिपुष्ट होती गई। आगे चलकर ये ही संस्कार और वृत्तियाँ इतनी विकसित हुईं और मनुष्य-समाज से इनका इतना घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ कि ये ही मनुष्य की सभ्यता का मानदंड मानी जाने लगीं।

जिस क्षण से चैतन्य मनुष्य पर बाह्य सृष्टि की विविध वस्तुओं की छाप पड़ने लगी लगभग उसी क्षण से उसमें उनके भिन्न भिन्न प्रभावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति का भी उन्मेष होने लगा था।

अभिव्यंजना की शक्ति

यह शक्ति मनुष्य मात्र के अस्तित्व के साथ लगी हुई है। मनुष्य के शारीरिक तथा मानसिक संघटन के मूल में इस शक्ति का समावेश है। उसकी अंतरात्मा अपने चारों ओर की सृष्टि को ग्रहण ही नहीं करती, उसे उसी रूप में वह व्यक्त भी करना चाहती है। बाह्य-सृष्टि मनुष्य पर सुख-दुःख, सुरूप-कुरूप, हित-अहित आदि की जो भावनाएँ उत्पन्न करती है, उनको अभिव्यंजित करना मनुष्य के लिए अनिवार्य सा है। मानव-मस्तिष्क का निर्माण ही कुछ इस प्रकार से हुआ है कि वह अपनी इस प्रवृत्ति को रोक नहीं सकता। मनुष्य के मस्तिष्क में संपूर्ण जीव-जगत् का चित्र आपसे आप अंकित हो जाता है। मस्तिष्क में ये चित्र अदृश्य रूप से अंकित रहते हैं और मनुष्य की अंतरात्मा की यह स्वभाव-सिद्ध प्रेरणा होती है कि वह उन चित्रों को गोचर रूप में चित्रित करे। आरंभ में साधनों के अभाव के कारण मनुष्य इंगितों अथवा अन्य स्थूल उपायों से इन्हें अंकित करने की चेष्टा करता था। इस क्रिया से उसे यत्-किंचित् संतोष और समाधान प्राप्त होता था, पर इनसे उसके मनोभाव यथोचित रूप से व्यक्त नहीं होते थे। कालानुक्रम से अभिव्यंजना की शक्ति का विकास होता गया और साथ ही

अभिव्यंजना की भिन्न भिन्न विधियाँ भी प्रतिष्ठित होती गईं जिनमें क्रमशः सौंदर्य की प्रतिष्ठा होने लगी। अभिव्यंजना की इन्हीं सौंदर्य-पूर्ण विधियों को 'कला' संज्ञा दी गई। वर्तमान समय में मनुष्य की अभिव्यंजना-शक्ति इतनी अधिक विकसित हो गई है और उसमें सौंदर्य के ऐसे सूक्ष्म और बहुरूपी भेद दिखाई देने लगे हैं कि 'कला' एक स्वतंत्र विद्या बन गई है, जिसका अध्ययन बहुत ही व्यापक रूप से किया जाने लगा है।

कला और अभिव्यंजना

यद्यपि ऊपर अभिव्यंजना को ही 'कला' का नाम दिया गया है तथापि संपूर्ण अभिव्यंजना 'कला' नहीं है। यह मनुष्य की शक्ति के अंतर्गत है कि वह केवल भिन्न भिन्न प्राकृतिक चित्रों को ग्रहण कर उनका उद्घाटन ही न करे, वरन् उनके संबंध में अपना मत, सिद्धांत अथवा नियम भी प्रकट करे। मनुष्य की बुद्धि में यह सामर्थ्य होता है कि वह केवल वस्तुओं का चित्रांकन ही नहीं करती, प्रत्युत उनकी मीमांसा, उनका श्रेणी-विभाग और नियम-निर्धारण आदि भी करती है। मनुष्य केवल कलाकार ही नहीं होता, वह दार्शनिक भी होता है। वह अपने सूक्ष्म प्रदर्शन से सृष्टिचक्र के संबंध में अनेक प्रकार से विवेचन, विश्लेषण और श्रेणी-विभाग करता है। वह सूक्ष्म रूप में अनेक प्रकार के सिद्धांत व्यक्त करता है, जो उपदेश के रूप में, ज्ञान की सामग्री बन जाते हैं। इस प्रकार

भिन्न भिन्न वैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण तथा दर्शनशास्त्र की प्रतिष्ठा होती है। किंतु यह दार्शनिक सिद्धांत-समुच्चय और वैज्ञानिक तथ्य 'कला' नहीं हैं। यह भी मनुष्य की अभिव्यंजना-शक्ति का एक अंग है। कला का संबंध नियमों से नहीं है, वह तो भावनाओं की सुंदर अभिव्यक्ति मात्र है। बाह्य जगत् की भिन्न भिन्न वस्तुओं का जैसा प्रतिबिंब मानस-मुकुर पर पड़ता है कला का सीधा संबंध उसी से है। नियम-निर्माण और सिद्धांत-समुच्चय उसकी विस्तार-सीमा से बाहर हैं। कलाओं के अंतर्गत सृष्टि के समस्त वास्तविक और काल्पनिक क्रिया-कलाप की व्यंजना की जा सकती है। मनुष्य की अनुभूतियों, कल्पनाओं और उसके संपूर्ण ज्ञान का एक बृहदंश कला का विषय है। भिन्न भिन्न वैज्ञानिक अनुसंधानों, दार्शनिक तथ्यों तथा तार्किक सारणियों के सांगोपांग वर्णन भी कला के उपयोग में आ सकते हैं। न्याय-शास्त्र के नियम कला नहीं कहे जा सकते, पर उनके आधार पर कला-कृतियों का निर्माण किया जा सकता है। सारांश यह कि मनुष्य की भावनाओं का जहाँ तक विस्तार है वह सब कला का विषय है और यह तो विदित ही है कि मानव-भावनाओं का विस्तार विराट् और प्रायः सीमारहित है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने मनुष्य की मानसिक क्रिया को तीन विभागों में विभक्त किया है—ज्ञान (knowing), भावना (feeling), और इच्छा (willing)। भारतीय

शास्त्रों में भी इस प्रकार का श्रेणी-विभाग है। संस्कृत-साहित्य में ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न बुद्धि-व्यापार की तीन प्रक्रियाएँ मानी गई हैं। संस्कृत के पंडितों ने भावना-शक्ति को नहीं माना है। इन दोनों विभागों में यही विशेष अंतर है। मनोविज्ञान के अनुसार ये शक्तियाँ एक दूसरी से अविच्छिन्न रूप में मिली हुई हैं और अलग नहीं की जा सकतीं। यद्यपि कला के मूल में भावना-शक्ति का प्राधान्य है, पर भावना-शक्ति का विश्लेषण करने पर उसमें भी ज्ञान और इच्छा की शक्तियाँ सन्निहित देख पड़ती हैं। सभ्यता के विकास के साथ साथ ज्यों ज्यों मनुष्य की परिस्थितियाँ जटिल होती गईं और उसमें समाज के हित-अहित का ध्यान बढ़ता गया, त्यों-त्यों उसकी इच्छा-शक्ति समय पाकर दृढ़ होती गई और यथासमय वह उसके मानसिक संघटन का एक दृढ़ अंग बन गई। कालांतर में मनुष्य की इच्छा-शक्ति उसकी भावनाओं पर नियंत्रण करने लगी। मनुष्य की ज्ञान-शक्ति उसकी भावनाओं को चैतन्य बनाती और उसकी इच्छा-शक्ति उन भावनाओं को शृंखलित तथा संयमित रखती है। इस प्रकार इन तीनों के संयोग से कलाओं द्वारा मानव-हित का संपादन होता है और मनुष्यों में सदाचार की प्रतिष्ठा होती है। यदि भावना-शक्ति के साथ ज्ञान-शक्ति का समन्वय न होता तो कलाएँ अपने आदि रूप से विकसित होकर वर्तमान उन्नति न प्राप्त करतीं और यदि भावना-शक्ति

कला और मनःशक्तियाँ

के साथ इच्छा-शक्ति का समन्वय न होता तो कलाओं की उच्छृंखलता को रोकना असंभव हो जाता। मनुष्य की सतत वर्द्धमान विवेक-शक्ति और उसकी सतत उन्नतिशील इच्छा-शक्ति उसकी भावना-शक्ति के साथ अभिन्न रूप में लगी हुई है, और वे तीनों मिलकर मानव-समाज का विकास करने में तत्पर हैं। पर विवेक और इच्छा से परितुष्ट भावना ही कला का प्राण है।

कला और प्रकृति

प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों और रूप-चेष्टाओं का प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है और वे ही उसकी अभिव्यंजना के विषय बनते हैं और उसके मन में भाव उत्पन्न करते हैं। इस दृष्टि से कला और प्रकृति का घनिष्ठ संबंध प्रकट होता है। प्रकृति के जो चित्र अपनी विशेषताओं अथवा मनुष्य की अभिरुचि के कारण उसके मन में अंकित होते हैं उन्हें ही वह कलाओं द्वारा व्यंजित करता है। प्रकृति की ओर मनुष्य निसर्गतः आकृष्ट रहता है। इस नैसर्गिक आकर्षण का परिणाम यह होता है कि मनुष्य प्रकृति के उन चित्रों को अपने हृदय में रस से सिक्त कर अभिव्यंजित करता है, और वे ही भिन्न भिन्न कलाओं के रूप में प्रकट हो मानव हृदय को रसान्वित करते हैं। भारतीय साहित्य में इसे ही 'रस' कहते हैं, पर साहित्य से ही नहीं अन्य कलाओं से भी इसकी निष्पत्ति होती है। किसी प्राकृतिक दृश्य को देखकर कलाकार के हृदय में जो भावना जितनी तीव्रता

अथवा स्थायित्व के साथ उदय होगी वह यदि उतनी ही वास्तविकता और उदारता के साथ उसे व्यक्त करने में समर्थ हो, तो उस अभिव्यक्ति से दर्शक, श्रोता अथवा पाठक समाज की भी उतनी ही तृप्ति हो सकती है। मनुष्य मनुष्य के हृदय-साम्य का यही रहस्य है कि कलाकार की अंतरात्मा का सच्चा भाव उसकी कलावस्तु में निहित होकर अधिकाधिक मानव-समाज को रसान्वित करने में समर्थ होता है। परंतु जब कभी कलाकार का जीवन अथवा जगत् संबंधी अनुभव सच्चा नहीं होता, तब वह उन्हें उचित रीति से व्यक्त करने में कृतकार्य नहीं होता और मानव-समाज उसकी कृति से तृप्ति नहीं प्राप्त करता। यही कलाकार की असफलता है।

यद्यपि कला को प्रकृति की अभिव्यंजना ही कहा जाता है, तथापि भारतीय विद्वान् प्राकृतिक आनंद और काव्यानंद में वही भेद मानते हैं जो शरीर और आत्मा में है। इसी से भारत के रसिक आलोचक काव्यानंद को अलौकिक कहते हैं। इसके विपरीत पश्चिम के अनेक आधुनिक विद्वान् काव्यानंद और प्राकृतिक आनंद में कोई तात्त्विक भेद नहीं मानते। भारत के दार्शनिक और काव्यज्ञ मन और अंतःकरण को ही सुख-दुःख का कारण मानते हैं, इसी से वे साधारण इंद्रियजन्य प्राकृतिक अनुभव से मानसिक अनुभव और स्वसंवेद्य काव्यानंद को बहुत भिन्न मानते हैं। भारतीय मत के अनुसार आनंद आत्मा का गुण है। उस आत्मानंद की तुलना स्थूल इंद्रिय-सुख से कैसे की जा सकती है?

अधिक स्पष्ट करने के लिए हमें अनुभव और आनंद के तीन भेद कर लेने चाहिएँ। पहला अनुभव वह है जिसे आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि वाला सहज और प्राकृतिक सुख-दुःख का अनुभव कहना चाहिए। दूसरा अनुभव वह है जिसे आलोचक और विद्वान् प्राकृतिक अनुभव कहते हैं, अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न इंद्रियगोचर वह प्रभाव जो कल्पना द्वारा मनुष्य को प्राप्त होता है। यह इंद्रियार्थ संयोग से उत्पन्न प्रभाव सुखद भी हो सकता है और दुःखद भी। तीसरे प्रकार का अनुभव वह अलौकिक असाधारण और अप्राकृतिक अनुभव होता है जो मनुष्य की मानस और बौद्धिक कृतियों से प्राप्त होता है और जिसका अनुभव स्थायी भावों तथा वासनाओं के बिना नहीं होता। कला का आनंद इसी पिछली श्रेणी का है।

कला और आचार

हम यह उल्लेख कर चुके हैं कि सृष्टि के आदि में चाहे जो अवस्था रही हो, पर सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य में भले-बुरे का ज्ञान दृढ़ हुआ और इस प्रकार आचार मानव-प्रकृति का एक अभिन्न अंग बन गया। संपूर्ण कला और साहित्य में मनुष्य के आचार की छाप पड़ी हुई है। मनुष्य की विवेक-बुद्धि उसकी इच्छाओं को संयमित रखती है, जिससे उसकी भावनाएँ परिमार्जित होती जाती हैं। इन परिमार्जित भावनाओं से सम्पन्न कलाएँ भी सदैव मनुष्य-समाज की सद्वृत्तियों की प्रतिकृति होती हैं। जो देश अथवा जाति जितनी अधिक

परिष्कृत तथा सभ्य होगी उसकी कलाकृतियाँ भी उतनी ही अधिक सुंदर और सुष्ठु होंगी। इससे स्पष्ट है कि कला-निर्माण में आचार का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। परंतु कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इस संबंध में कुछ ऐसे प्रवादों की सृष्टि की है, जिससे भ्रम बढ़ रहा है। एक सिद्धांत यह उपस्थित किया गया है कि स्वप्न में मनुष्य की कल्पना और भावना उन दिशाओं की ओर जाती हैं जिन दिशाओं में वे समाज की दृष्टि के सामने नहीं जा पातीं। इसी स्वप्न-सिद्धांत को कुछ विद्वान् कविता तथा कलाओं में भी चरितार्थ करते हैं। परंतु इस प्रकार के अनोखे सिद्धांत अधिकांश में अर्धसत्य ही होते हैं और कलाओं का अनिष्ट करने में सहायक बन जाते हैं। यदि यह स्वप्न-सिद्धांत स्वीकार कर लिया जाय और काव्य तथा अन्य कलाओं में भी इसका अधिकार हो जाय तब तो कलाओं से आचार का बहिष्कार ही समझना चाहिए। परंतु इस सिद्धांत के अपवाद इतने प्रत्यक्ष हैं कि यह किसी प्रकार निर्भ्रांत नहीं माना जा सकता।

विद्वानों का एक दूसरा दल यथार्थवाद के नाम पर भी बहुत कुछ ऐसी ही बातें कहता है। मनुष्य के शरीर-संघटन का विश्लेषण करके ये विद्वान् यह आभास देते हैं कि उसकी मूल वृत्तियाँ आहार, निद्रा आदि शरीरिक आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए ही होती हैं। इनके अतिरिक्त मनुष्यों की जो अन्य उदात्त वृत्तियाँ होती है वे दृढ़मूल नहीं हैं, केवल सभ्यता

के निर्वाह के लिए हैं। हमारे भारतीय मनीषियों ने इस सिद्धांत का सर्वदा विरोध किया है। उन्होंने मनुष्य और पशु का अंतर समझा है और वे उच्च वृत्तियों के उन्नतिशील विकास का सदैव प्रयास करते रहे हैं। यदि पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार मनुष्य की मूल मनोवृत्तियाँ केवल शरीरजन्य हैं और उसकी अन्य उदात्त वृत्तियाँ मौलिक नहीं हैं तो भी वे यह स्वीकार करते हैं कि सभ्यता की आवश्यकताओं के अनुसार इनकी सृष्टि हुई है। यदि उनका कथन स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी सभ्यता की आवश्यकताएँ क्या कुछ कम महत्त्वपूर्ण हैं?

विद्वानों का एक तीसरा वर्ग 'कला के लिए कला' का सिद्धांत उपस्थित करता है और आचार को कला के बाहर की वस्तु ठहराता है। 'कला के लिए कला' के सिद्धांत का अर्थ स्पष्ट न होने के कारण इस संबंध में बहुत सी भ्रांति फैली हुई है। कला के विवेचन में तो हम भिन्न भिन्न कला-वस्तुओं का एक एक करके विवेचन कर सकते हैं, अथवा दो या अधिक कला-सृष्टियों की अलग अलग तुलना कर सकते हैं। उन कला-सृष्टियों के स्रष्टा भिन्न मनुष्य होते हैं और सब मनुष्यों के विकास की परिस्थितियाँ भी भिन्न भिन्न होती हैं। मनुष्य स्वयं एक अज्ञेय प्राणी है। वह अपनी परिस्थिति, देश-काल की परिस्थिति, सभ्यता, आचार, मनःसंस्कृति आदि का एक जटिल संग्रंथित रूप है। जब वही मनुष्य कला-सृष्टि करता है तब उसके द्वारा उत्पन्न कला का विवेचन करने में इन संपूर्ण जटिलताओं पर ध्यान

रखना पड़ता है। जब एक व्यक्ति की एक कला-सृष्टि में इतनी जटिलताएँ हैं तब तो संसार की संपूर्ण कलाकृतियों को लेकर उनकी और उनका सृजन करनेवालों की अपार भाव-भिन्नता की कोई सीमा नहीं मिल सकती। उस अवस्था में 'कला के लिए कला' का हमारे लिए केवल इतना ही अर्थ रह जाता है कि कला एक स्वतंत्र सृष्टि है। उसके कुछ अपने नियम हैं। उन नियमों का पालन ही 'कला के लिए कला' कहला सकता है। कला के विवेचन में उन नियमों के पालन-अपालन के संबंधों की चर्चा की जाती है और कला तथा साहित्य-संबंधी शास्त्रों में उन्हीं नियमों का कोटि-क्रम उपस्थित किया जाता है। इसे कलाओं की विन्यास-पद्धति कहना चाहिए। इन नियमों का निरूपण कला के व्यक्तित्व को स्पष्ट करता है और मनुष्य के अन्य क्रियाकलापों से उसकी पृथक्ता दिखाता है। कलाकार की ओर से आँखें हटाकर केवल उसकी कलावस्तु की परीक्षा की जाती है और इस परीक्षा में व्यापक कलातत्त्व ही सामने आते हैं। आचार, सभ्यता और संसार के प्रश्न कला के लिए तात्त्विक नहीं हैं। वे तो एक एक कलाकृति की अलग अलग विवेचना करने पर उपस्थित होते हैं। हमारे देश के साहित्यशास्त्रियों ने 'कला के लिए कला' की समस्या को व्यापक रूप में देखा था और उनकी शास्त्रीय समीक्षा की पुस्तकों में ऐसा ही व्यापक विचार है। पश्चिम में इसे लेकर बहुत सी व्यर्थ की खींच-तान हुई है। किंतु तथ्य इतना ही है कि वस्तु रूप में कलाओं

का प्रत्यक्षीकरण करते हुए आचार आदि के प्रश्न वास्तव में अंतर्हित हो जाते हैं। इसका यह आशय कदापि नहीं है कि कला का आचार से कोई संबंध ही नहीं, आशय यही है कि कला-संबंधी शास्त्र आचार-संबंधी शास्त्र से भिन्न है।

कलाओं का वर्गीकरण

कलाओं के वर्गीकरण के संबंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। प्रसिद्ध कलाशास्त्री क्रोचे का कथन है कि न तो कलाशास्त्र की दृष्टि से और न दार्शनिक दृष्टि से कलाओं का श्रेणी-विभाग किया जा सकता है। उसके विचार में कला एक अखंड अभिव्यक्ति है; अतः उसको खंडित नहीं किया जा सकता। वह तो वस्तु-जगत् के भिन्न भिन्न प्रभावों को मानव-मस्तिष्क में मूर्त्त या अभिव्यक्त होने को ही कला मानता है, अतः इस दृष्टि से कला एक नैसर्गिक विधान है। उसका विभाग नहीं किया जा सकता, परंतु जब हम भिन्न भिन्न कला-सृष्टियों पर विचार करते हैं, कलाओं के उस मूर्त रूप पर दृष्टि डालते हैं जो कभी किसी सुगठित मूर्ति और कभी किसी मनोहर काव्य के रूप में हमारे इंद्रियगोचर होता है तब हम कलाओं की भिन्नता के दर्शन करते हैं। क्रोचे के मत के अनुसार यह भिन्नता कोई तात्त्विक विधान नहीं, केवल बाह्य भेद है। वास्तव में इसे उपकरण-भेद समझना चाहिए। मूल अभिव्यक्ति, कलाकार के अंतर की अभिव्यक्ति, एकरस ही बनी रहती है। कलाकार तो केवल अपनी मानसिक अभिव्यक्ति को कभी चित्र में चित्रित

करता, कभी मूर्ति में प्रस्फुटित करता और कभी साहित्य में सन्निविष्ट करता है। इस प्रकार उसकी मानसिक अभिव्यक्ति कला का बाह्य रूप धारण करती है। कभी कभी तो ऐसा ही होता है कि बाह्य रूप धारण करने में एक से अधिक उपकरणों की सहायता लेनी पड़ती है। कभी काव्य में चित्रणकला का मेल किया जाता है और कभी वास्तुकला में मूर्तिकला सन्निहित की जाती है। इससे स्पष्ट है कि कलाओं का यह वर्गीकरण बाह्य वर्गीकरण ही है। परंतु व्यावहारिक दृष्टि से इसकी आवश्यकता सबको स्वीकार करनी पड़ती है।

उपयोगी और ललित कलाएँ

इसी व्यावहारिक दृष्टि से कलाओं को सर्वप्रथम (१) उपयोगी, (२) ललित कला, इन दो विभागों में बाँटा गया है। प्राकृतिक सृष्टि में जो कुछ देखा जाता है, किसी न किसी रूप में यह सभी उपयोग में आता है। ऐसी एक भी वस्तु नहीं है जिसमें उपादेयता का गुण वर्तमान न हो। यह संभव है कि बहुत सी वस्तुओं के गुणों को हम अभी तक न जान सके हों, पर ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, हम उनके गुणों को अधिकाधिक जानते जाते हैं। प्राकृतिक पदार्थों में उपयोगिता के अतिरिक्त एक और भी गुण पाया जाता है, वह उनका सौंदर्य है। फल-फूलों, पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों, नदी-नालों, नक्षत्र-तारों आदि सभी में हम किसी न किसी प्रकार का सौंदर्य पाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संसार में अनुपयोगिता

और कुरूपता का अस्तित्व ही नहीं। उपयोगिता और अनुप-योगिता, सुरूपता और कुरूपता सापेक्षिक गुण हैं। एक के अस्तित्व से ही दूसरे का अस्तित्व प्रकट होता है। एक के बिना दूसरे गुण का भाव ही मन में उत्पन्न नहीं हो सकता। पर साधारणतः जहाँ तक मनुष्य की सामान्य बुद्धि जाती है, प्रकृति में चारों ओर उपयोगिता और सुंदरता दृष्टि-गोचर होती है। इसी प्रकार मनुष्य द्वारा निर्मित पदार्थ में भी हम उपयोगिता और सुंदरता पाते हैं।

इस दृष्टि से कला के दो विभाग होते हैं—एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। उपयोगी कला में बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कला के अंतर्गत वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्रण-कला, संगीत-कला और काव्य-कला ये पाँच कला-भेद हैं। पहली अर्थात् उपयोगी कलाओं के द्वारा अधिकतर मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और दूसरी अर्थात ललित कलाओं के द्वारा उसके अलौकिक आनंद की अधिकतर सिद्धि होती है। दोनों ही उसकी उन्नति और विकास के द्योतक हैं। भेद इतना ही है कि एक का संबंध मनुष्य की शारीरिक और आर्थिक उन्नति से है और दूसरी का उसके मानसिक विकास से।

यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु उपयोगी हो, वह सुंदर भी हो, परंतु मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है। वह सभी उपयोगी

वस्तुओं को यथाशक्ति सुंदर बनाने का उद्योग करता है। अतएव बहुत से पदार्थ ऐसे हैं जो उपयोगी भी हैं और सुंदर भी हैं, अर्थात् वे दोनों श्रेणियों के अंतर्गत आ सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो उपयोगी की अपेक्षा सुंदर अधिक होते हैं। यह सब व्यावहारिक भेद है।

खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने, रहने, बैठने, आने-जाने आदि के सुभीते के लिए मनुष्य को आरंभ से ही अनेक वस्तुओं की आवश्यकता हुई होगी। मनुष्य ज्यों ज्यों सभ्यता की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ता गया, त्यों त्यों उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती गईं। इस उन्नति के साथ ही साथ मनुष्य का सौंदर्य-ज्ञान भी बढ़ता गया और उसकी मानसिक तृप्ति के लिए सुंदरता का आविर्भाव हुआ। ऐसा किए बिना उसकी मनस्तृप्ति नहीं हो सकी। जिस पदार्थ के दर्शन से मन प्रसन्न नहीं होता, वह सुंदर नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि भिन्न भिन्न देशों के लोग अपनी अपनी सभ्यता की कसौटी के अनुसार ही सुंदरता का आदर्श स्थिर करते हैं क्योंकि सब का मन एक सा संस्कृत नहीं होता।

ललित कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो वे जो नेत्रेंद्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं और दूसरी वे जो श्रवणेंद्रिय के सन्निकर्ष से उस तृप्ति का साधन बनती हैं।

ललित कलाओं का आधार

इस विचार से वास्तु, मूर्ति और चित्रण कलाएँ तो

नेत्र द्वारा तृप्ति का विधान करनेवाली हैं और संगीत तथा काव्य कानों के द्वारा*। पहले प्रकार की कला में किसी मूर्त आधार की आवश्यकता होती है, पर दूसरी में उसकी उतनी आवश्यकता नहीं होती। इस मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ललित कलाओं की श्रेणियाँ, उत्तम और मध्यम, स्थिर की जा सकती हैं। जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम रहता है, वह उतनी ही उच्च कोटि की समझी जाती है। इसी भाव के अनुसार काव्य-कला को सबसे ऊँचा स्थान दिया जाता है, क्योंकि उसमें मूर्त आधार का एक प्रकार से पूर्ण अभाव रहता है और इसी के अनुसार वास्तु-कला को सबसे नीचा स्थान देते हैं, क्योंकि मूर्त आधार की अधिकता के बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं। सच तो यह है कि इस आधार को सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तु-कला को कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनंतर दूसरा स्थान मूर्ति-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है, परंतु मूर्तिकार किसी प्रस्तर-खंड को ऐसा रूप देता है जो उस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। वह उस प्रस्तर-खंड वा धातु-खंड में सजीवता की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है। मूर्ति-कला के अनंतर तीसरा स्थान चित्रण-कला का है। उसका

---

* काव्य के दो भेद हैं, श्रव्य और दृश्य। रूपकाभिनय अर्थात् दृश्य काव्य आँखों का ही विषय है। कान और नेत्र दोनों से उसकी उपलब्धि होती अवश्य है, पर उसमें दृश्यता प्रधान है।

भी आधार मूर्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त अर्थात् साकार पदार्थ में लंबाई, चौड़ाई और मुटाई होती है। वास्तुकार अर्थात् भवन-निर्माण-कर्ता और मूर्तिकार को अपना कौशल दिखाने के लिए मूर्त आधार के पूर्वोक्त तीनों गुणों का आश्रय लेना पड़ता है। मुटाई तो चित्र में नाम-मात्र को होती है। तात्पर्य यह कि ज्यों ज्यों हम ललित कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं, त्यों त्यों मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है। संगीत में नाद का परिमाण अर्थात् स्वरों का आरोह और अवरोह (उतार-चढ़ाव) ही उसका आधार होता है। उसे सुचारु रूप से व्यवस्थित करने से भिन्न भिन्न रसों और भावों का आविर्भाव होता है। अंतिम अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्य-कला का है। उसमें मूर्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसका प्रादुर्भाव शब्द-समूहों या वाक्यों से होता है, जो मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य में जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व ही नहीं रहता। पर शब्द की रमणीयता आने से संगीत के सदृश नाद-सौंदर्य-रूप मूर्त आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्य-कला में पाश्चात्य काव्य-कला की अपेक्षा नाद-रूप मूर्त आधार की योजना अधिक रहती है। पर यह अर्थ की रमणीयता के समान काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। अर्थ की रमणीयता काव्य-कला का प्रधान गुण है और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।

ललित कलाएँ सौंदर्य की सृष्टि करके श्रोता अथवा दर्शक के हृदय में आनंद का उद्रेक करती हैं। इस भाँति सभी ललित कलाओं के उद्देश्य में एकता है। आनंद उत्पन्न करने के अतिरिक्त भी इन कलाओं का मानव-जीवन में कोई उपयोग है या नहीं, इस संबंध में मतभेद है। विद्वानों का एक दल कहता है कि ललित कलाएँ स्वभाव से ही आनंददायिनी होती हैं और यही उनकी सार्थकता है। इससे अलग किसी प्रकार की उपादेयता कला में ढूँढ़ना अनुचित ही नहीं, वरन् स्वयं कला के लिए अनिष्टकर है। किंतु विद्वानों का दूसरा दल कला को जीवन के दूसरे व्यापारों से अलग कोई स्वतंत्र स्थान नहीं प्रदान करता। उसके मतानुसार कला को उसी प्रकार जाँचना चाहिए जिस प्रकार हम जीवन के दूसरे अनुभवों, क्रियाओं और पदार्थों को जाँचते हैं। कलाएँ हमारे जीवन पर कैसा प्रभाव डालती हैं यह प्रश्न इस मत के अनुयायियों के लिए बहुत महत्त्व रखता है। दोनों दलों में किसका सिद्धांत ठीक है, यह कहना कठिन है, किंतु इतना अवश्य है कि दूसरे दल का सिद्धांत बहुत पुराना है और प्लेटो तथा अरस्तू के समय से आज तक अधिकतर कला-शास्त्रियों ने इसे अपनाया है। 'कला के लिए कला' वाला सिद्धांत अभी बहुत नया है और स्थूल दृष्टि से विचार करने पर भी उसमें कई त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं। सबसे पहले यह सिद्धांत मान लेता है कि कलाओं द्वारा उत्पन्न आनंद दूसरी

ललित कलाओं का महत्त्व

मानसिक क्रियाओं से सर्वथा पृथक् होकर रह सकता है, क्योंकि मस्तिष्क में वर्तमान दूसरे अनुभवों के साथ यदि इसका संपर्क मान लिया जाय तो ऐसा संभव नहीं कि इसका कुछ न कुछ प्रभाव उस पर न पड़े। किंतु मनोविज्ञान के अनुसार मस्तिष्क में किसी भी अनुभव का इस प्रकार पूर्ण रूप से अकेला होकर रहना संभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि कलाओं का काम केवल आनंद देना है तो भी वे उस असाधारण आनंद को उत्पन्न करके हमारी भावनाओं को जागरित और संस्कृत कर देती हैं। और यदि वे इस प्रकार हमारी भावनाओं को पुष्ट और सुसंस्कृत बनाती तथा हमारी कल्पना-शक्ति को तीव्र करती हैं तो हम उन्हें उपादेयतायुक्त न कहकर और क्या कहेंगे। कलाओं की जो उपादेयता मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में है वही समाज के लिए भी है। यदि कवि, गायक तथा दूसरे कलाकार न हुए होते तो सभ्य मानव-समाज की मानसिक वृत्तियाँ इतनी संवेदनीय और संस्कृत न हुई होतीं। भारतीय कला का जीवन से अत्यंत घनिष्ठ संबंध रहा है।

कविता और संगीत

कविता और संगीत में बहुत साम्य है। कविता और संगीत दोनों गतिशील संज्ञाएँ हैं। ये दोनों स्थिर रूप में एक बार ही ग्रहण नहीं की जातीं। प्रत्येक पंक्ति के साथ कविता का और स्वर के प्रत्येक आरोह तथा अवरोह के साथ संगीत का प्रभाव आगे बढ़ता है। एक चित्र को हम एक ओर से दूसरी ओर दाहिने से बाएँ और

ऊपर से नीचे जिस प्रकार चाहें देखकर एक सा आनंद उठा सकते हैं पर कविता और संगीत में गति आगे की ओर बढ़ती है। इसलिए आगे से पीछे लौटकर उलटी रीति से इन कलाओं का आनंद हम नहीं उठा सकते। फिर, कविता और संगीत दोनों ही ध्वनि और लय का उपयोग करते हैं, यद्यपि कविता की अपेक्षा संगीत में उनका कहीं अच्छा उपयोग होता है। इसका कारण यह है कि संगीत में केवल स्वर वर्ण ही प्रयुक्त किए जाते हैं और इसलिए उसका माध्यम कहीं अधिक लचीला है। कविता में स्वर वर्णों के साथ व्यंजन मिलकर उसके माध्यम को कम लचीला बना देते हैं। दूसरी ओर कविता की विशेषता यह है कि शब्दों की सहायता से वह भावों को अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट कर सकती है। संगीत जिस भाव को केवल स्वरों के संकेत मात्र से अवगत करायेगा कविता उसे रूप देकर सामने खड़ा कर देने में समर्थ होती है। दूसरी बात यह है कि संगीत की अपेक्षा कविता का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। संगीत कुछ भावों–कुछ मानसिक परिस्थितियों–को ही प्रकट कर सकता है। संगीत द्वारा हर्ष, करुणा और विषाद की बड़ी अच्छी अभिव्यक्ति हो सकती है, किंतु बाह्य जगत् के चित्रण में संगीत का कोई हाथ नहीं। संगीत द्वारा हम किसी युद्ध की घटनाओं का वर्णन नहीं कर सकते। कविता बाह्य और अंतर दोनों परिस्थितियों को प्रकट करने में समर्थ है। कविता के द्वारा कवि घटनाओं और पदार्थों का वर्णन उसी

सुगमता से कर सकता है जैसे सुख, दुःख, हर्ष, विस्मय, विषाद आदि भावों का।

परंतु इस परिमित क्षेत्र में संगीत अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं रखता। संगीत कला का सबसे सूक्ष्म और दार्शनिक रूप है। एक तो इसका माध्यम सबसे अधिक सूक्ष्म है, दूसरे इसमें पदार्थ और रूप का पृथक् करना संभव नहीं है। संगीत हमारे विचारों का नहीं वरन् हमारी इच्छा-शक्ति का प्रतिरूप है। विचार उसके बाह्य रूप हैं।

कविता अपना प्रभाव उत्पन्न करने के लिए संगीत के माधुर्य से सहायता लेती है। कुछ कवियों की कविता अधिक संगीतमय और कुछ की कम संगीतमय है। कुछ कवि अपनी कविता को स्वर और ध्वनि के माधुर्य पर इतना निर्भर कर देते हैं कि कविता संगीत की अनुगामिनी मात्र होकर रह जाती है। इस प्रकार कविता को संगीत पर निर्भर कर देना कविता के महत्त्व को कम करना है।

कला के कुछ विवेचन करनेवालों ने कविता और चित्रण-कला को बहुत कुछ एक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने

काव्य-कला और चित्रण-कला

चित्र को रेखाबद्ध कविता और कविता को शब्दों द्वारा चित्रण बताया है। ध्यानपूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि कविता और चित्रण-कला में संबंध अवश्य है पर इसके होते हुए भी उनमें बहुत कुछ विभिन्नता है।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, काव्य-कला गतिशील कला है, किंतु चित्रण-कला अचल कला है। काव्य में शब्दों की सहायता से क्रियाओं और घटनाओं का वर्णन किया जा सकता है। कविता का प्रवाह समय द्वारा बँधा हुआ नहीं है। समय और कविता दोनों ही प्रगतिशील हैं, इसलिए कविता समय के साथ साथ परिवर्तित होनेवाली क्रियाओं, घटनाओं और परिस्थियों का वर्णन समुचित रूप से कर सकती है। चित्रण-कला स्थायी होने के कारण समय के केवल एक पल को, पदार्थों के केवल एक रूप को, अंकित कर सकती है। चित्रण-कला में केवल पदार्थों का चित्रण हो सकता है। कविता में परिवर्तनशील परिस्थितियों, घटनाओं और क्रियाओं का वर्णन हो सकता है। इसलिए कहा जा सकता है कि कविता का क्षेत्र चित्रण-कला से विस्तृत है। कविता द्वारा व्यक्त किए हुए एक एक भाव और कभी कभी कविता के एक शब्द के लिए अलग चित्र उपस्थित किए जा सकते हैं।

किंतु पदार्थों का अस्तित्व समय से परे तो है नहीं, उनका भी रूप समय के साथ बदलता रहता है और ये बदलते हुए रूप बहुत अंशों में समय का प्रभाव प्रकट करते हैं। इसी प्रकार क्रिया और गति, बिना पदार्थों के आधार के संभव नहीं। इस भाँति किसी अंश में कविता पदार्थों का सहारा लेती है और चित्रण-कला प्रगतिवान् समय द्वारा प्रभावित होती है। पर यह सब गौण रूप से होता है।

मूर्ति-कला और वास्तु-कला को हमने काव्य-कला से तुलना के लिए एक साथ लिया है, क्योंकि एक ही प्रकार का सौंदर्य दोनों का साधन है। दोनों का प्रभाव रूप-संघटन पर निर्भर है। मूर्तिकार और वास्तु-कलाकार दोनों ही सुडौलता और सामंजस्य का ध्यान रखते हैं, यद्यपि मूर्तिकार पत्थर को काटकर किसी वास्तविक अथवा कल्पित पदार्थ का रूप खड़ा करता है और वास्तुकार पत्थर, लकड़ी, लोहा इत्यादि से सुंदर गृह निर्माण करता है।

मूर्ति-कला तथा वास्तु-कला और कविता

सुडौलता और सुंदरता पृथक् नहीं किये जा सकते और कवि को भी उसका ध्यान रखना पड़ता है। भिन्न भिन्न पद्यों के स्वरूप निर्धारित करने के लिए जो नियम बनाये गये हैं वे इस बात के प्रमाण है। छंद प्रबंध, विभिन्न प्रकार की कविता के आकार, महाकाव्य में कितने सर्ग होंगे, नाटक में कितने अंक होंगे—ये सब बातें कविता में सुडौलपन लाने के लिए बनाई गई हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कविता का बाह्य रूप सौंदर्य के उसी सिद्धांत पर अवस्थित है जो सिद्धांत मूर्ति-कला और वास्तु-कला का आधार है।

अपने को छोड़कर अथवा अपने से भिन्न संसार में जितने वास्तविक पदार्थ आदि हैं, उनका विचार हम दो प्रकार से करते हैं, अर्थात् हम अपनी जाग्रत् अवस्था में समस्त सांसारिक पदार्थों का अनुभव दो प्रकार से प्राप्त करते हैं—एक तो ज्ञानेंद्रियों द्वारा उनकी

ललित कलाओं का ज्ञान

प्रत्यक्ष अनुभूति से, और दूसरे उन भावचित्रों द्वारा जो हमारे मस्तिष्क या मन तक सदा पहुँचते रहते हैं। मैं अपने बगीचे के बरामदे में बैठा हूँ। ऐसे समय में जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है, उस स्थान का, पेड़ों का, फूलों का, फलों का, अर्थात् मेरे दृष्टि-पथ में जो कुछ आता है, उस सबका, मुझे साक्षात् अनुभव या ज्ञान होता है। कल्पना कीजिए कि इसी बीच में मेरा ध्यान किसी और सुंदर बगीचे की ओर चला गया, जिसे मैंने कुछ दिन पहले कहीं देखा था अथवा जिसकी कल्पना मैंने अपने मन में ही कर ली। उस दशा में इन बगीचों में मेरे पूर्व अनुभवों या उनसे जनित भावों का सम्मिश्रण रहेगा। अतएव पहले प्रकार के ज्ञान को हम बाह्य ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष संबंध उन सब पदार्थों या जीवों से है, जो मेरे अतिरिक्त वर्तमान है और जिनका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे अपनी ज्ञानेंद्रियों द्वारा होता है। दूसरे प्रकार के ज्ञान को हम आंतरिक ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका संबंध मेरे पूर्व-संचित अनुभवों या मेरी कल्पना-शक्ति से है। ज्ञान का पहला विस्तार मेरी गोचर-शक्ति की सीमा से परिमित है, पर दूसरा विस्तार उससे अत्यंत अधिक है। उसकी सीमा निर्धारित करना कठिन है। यह मेरे पूर्व अनुभव पर ही अवलंबित नहीं, इसमें दूसरे लोगों का अनुभव भी सम्मिलित है। इसमें मेरी ही कल्पना-शक्ति सहायक नहीं होती, वरन् दूसरों की कल्पना-शक्ति भी सहायक होती है। जिन पूर्ववर्ती लोगों ने अपने अपने अनुभवों को अंकित करके

उन्हें रक्षित या नियंत्रित कर दिया है, चाहे वे इमारत के रूप में हों, चाहे मूर्ति के, चाहे चित्र के और चाहे पुस्तकों के, सबसे सहायता प्राप्त करके मैं अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकता हूँ। पुस्तकों द्वारा दूसरों का जो संचित ज्ञान मुझे प्राप्त होता है और अधिक काल तक मानव-हृदय पर अपना प्रभाव जमाए रहता है, उसी की गणना हम काव्य या साहित्य में करते हैं। साहित्य से हमारा तात्पर्य उस ज्ञान-समुदाय से है,जिसे साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्य की सीमा के भीतर माना है।

इन विचारों के अनुसार काव्य या साहित्य को हम महाजनों की भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं का एक लिखित भांडार भी कह सकते हैं,जो अनंत काल से भरता आता है और निरंतर भरता जायगा। मानव-सृष्टि के आरंभ से मनुष्य जो कुछ देखता, अनुभव करता और सोचता-विचारता आया है, उन सबका बहुत कुछ अंश इसमें भरा पड़ा है, अतएव यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन के लिए यह भांडार कितना प्रयोजनीय है।

काव्य-कला का महत्त्व

संसार का जो कुछ ज्ञान हम अपने पूर्व अनुभव और काव्य-साहित्य के द्वारा प्राप्त करते हैं, वह हमें इस योग्य बनाता है कि हम इस मूर्त संसार का बाह्य ज्ञान भली भाँति प्राप्त करें और विविध कलाओं के परिशीलन या प्रकृति के दर्शन से वास्तविक आनंद प्राप्त करें तथा उसका मर्म समझें। संसार की

प्रतीति ही हमें उसके मूर्त बाह्य स्वरूप को पूरा पूरा समझने में समर्थ करती है।

काव्य को हम मानव जाति के अनुभूत कार्यों अथवा उसकी अंतर्वृत्तियों की समष्टि भी कह सकते हैं। जैसे एक व्यक्ति का अंतःकरण उसके अनुभव, उसकी भावना, उसके विचार और उसकी कल्पना को—अर्थात् उसके सब प्रकार के ज्ञान को—रक्षित रखता है और उसी रक्षित भांडार की सहायता से वह नष्ट अनुभव और नई भावनाओं का तथ्य समझता है, उसी प्रकार काव्य जाति-विशेष का मस्तिष्क या अंतःकरण है, जो उसके पूर्व अनुभव, भावना, विचार, कल्पना और ज्ञान को रक्षित रखता है और उसी की सहायता से उसकी वर्तमान स्थिति का अनुभव प्राप्त किया जाता है। जैसे ज्ञानेंद्रियों के सब संदेशे बिना मस्तिष्क की सहायता और सहयोगिता के अस्पष्ट और निरर्थक होते, वैसे ही साहित्य के बिना, पूर्व-संचित ज्ञान-भांडार के बिना, मानव-जीवन पशु-जीवन के समान होता, उसमें वह विशेषता ही न रह जाती, जिसके कारण मनुष्य मनुष्य कहलाने का अधिकारी है।

दूसरा अध्याय

साहित्य

बहुत प्राचीन काल में मनुष्य मूर्त्ति-रचना, चित्रांकन, संगीत तथा कविता की भिन्न भिन्न प्रणालियों से अपनी भावनाएँ व्यक्त करता था। उसी प्रकार वह आज भी कर रहा है, अतएव इन प्रणालियों में किसी एक को दूसरे से अधिक स्वाभाविक अथवा संस्कृत नहीं कहा जा सकता। प्रायः सभी समयों से सभी प्रणालियाँ प्रचलित थीं और आज भी प्रचलित हैं। सभी सभ्य देशों में इनका विकास होता रहा है और ये ही उन देशों की सभ्यता का मापदंड बन रही हैं। इतिहास के शोधक इनके ही आधार पर प्राचीन सभ्यताओं की विशिष्टताओं का निरूपण करते हैं। ऐसी अवस्था में यह भ्रम नहीं हो सकता कि साहित्य-कला किसी अन्य कला से तत्त्वतः भिन्न अथवा पृथक् है। साहित्य की उत्पत्ति और विकास भी उसी प्रकार से हुआ है जिस प्रकार अन्य कलाओं का हुआ है। साहित्य के मूल में भी वे ही मनोभाव हैं जो सब कलाओं के मूल में हैं, पर अन्य कलाओं की अपेक्षा साहित्य का प्रभाव अधिक विस्तृत तथा उसका दर्शन अति सूक्ष्म है।

उद्देश्य

अन्य ललित कलाओं की भाँति साहित्य का स्रष्टा भी चैतन्य मनुष्य है। यह संसार असंख्य जीवधारियों की निवास-भूमि है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि प्रत्येक जीव आत्मवान् है। आत्मा अपने निर्विकल्प रूप में प्रत्यगात्मा है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया ये आत्मा की तीन वृत्तियाँ मानी गई हैं। जिस प्रकार जीव आत्मवान् है उसी प्रकार प्रत्येक में अनात्मभाव भी है। आत्म और अनात्म के सम्मिश्रण से ही जीव मात्र की रचना हुई है।

साहित्य-दर्शन

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आत्मभाव और अनात्मभाव क्या है, जिनका सम्मिश्रित रूप हम भिन्न भिन्न जीवों में देख रहे हैं। क्यों हम किसी जीव को साधु तथा सदाचारी और किसी अन्य को असाधु तथा दुराचारी कहते हैं। आज एक व्यक्ति हमारे सामने आता है जो आत्महत्या करने को तैयार है, उसकी बातें किस प्रकार की होती हैं? वह कहता है कि आत्मा कुछ नहीं है, केवल जड़ संसार सबको घेरे हुए है। संसार में न्याय कहीं नहीं, क्लेश सर्वत्र है। आचार के स्थान पर दुराचार और न्याय के स्थान पर अत्याचार का ही व्यापार सब ओर फैल रहा है। यह सुन लेने के बाद कल किसी दूसरे जीव से हमारी भेंट होती है। वह कहता है, आत्मा ही सब कुछ है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। सत्य ही संसार का स्वरूप है, सत् ही आचार है। अब इन दोनों जीवों के वचनों की तुलना कीजिए। एक में आप अनात्मभाव की पराकाष्ठा और

दूसरे में अनात्मभाव का विशद रूप देखते हैं। ऊपर तो हमने केवल दो उदाहरण लेकर आत्म और अनात्म का विभेद दिखाने की चेष्टा की है, वास्तविक संसार में तो यह विभेद बहुतों को दृष्टिगोचर भी नहीं होता। जितने जीव हैं सब में ये दोनों भाव भिन्न भिन्न मात्राओं में व्याप रहे हैं जिनका आदि अंत मिलना बहुत ही कठिन है। प्रश्न यह है कि आत्म और अनात्म का भेद क्या है, स्वरूप क्या है, पहचान क्या है?

आत्म और अनात्म का स्वरूप क्या है यह हम ऊपर के उदाहरण में प्रकट कर चुके हैं। आत्मा का गुण आनंदमय ठहाराया गया है। आनंद का विस्तार, प्रसार, उन्नयन ये आत्मिक क्रियाएँ कही गई हैं। इसी के विरोधी गुण तथा क्रियाएँ अनात्मा की मानी गई हैं। किसी जीवधारी में आनंद का आधिक्य है, किसी में उसकी न्यूनता होती है, किसी अन्य में इसके विपरीत भाव देख पड़ते हैं। आनंद और विषाद, आकर्षण और विकर्षण, अनुराग और विराग—ये क्रमशः आत्मा और अनात्मा के विषय हैं और ये ही साहित्य के भी विषय हैं। जैसे नित्य प्रति के जीवन में हमारी ज्ञान, इच्छा और क्रिया की वृत्तियाँ आनंद और विषाद, आकर्षण और विकर्षण, आत्म और अनात्म के अगणित भेदों के साथ संयुक्त हो जाती हैं, वैसे ही वे साहित्य में भी होती हैं। जीवन में जो प्रमुख इच्छाएँ और कामनाएँ हैं, साहित्य में वे ही स्थायी भाव हैं। जीवन में जिस प्रकार प्रत्येक जीव अपनी इच्छाओं की पूर्ति

द्वारा अपने आनंद का विस्तार करना चाहता है उसी प्रकार साहित्य का भी प्रत्येक पाठक अपने अनुरूप 'रस' प्राप्त करना चाहता है। जिस प्रकार किसी देश, जाति अथवा राष्ट्र का जीवन उसके प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का समष्टि रूप है और जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति संसार में अपने जीवन को अपने ही पथ पर ले चलता और आप ही अपना विकास करता है, उसी प्रकार साहित्य में भी समष्टि रूप से सबके योग्य सामग्री और सबके विकास के साधन रहते हैं।

साहित्य भी आत्म और अनात्म के सहित रहता है। आत्म और अनात्म, पुरुष और प्रकृति उन सब भेदों को परमात्मा में विलीन कर देने की व्यवस्था पुरानी है। प्राचीनों के इस दर्शन ने ब्रह्म का निरूपण किया था और साहित्य में भी उन्होंने इसका निरूपण किया है। ज्ञान, भक्ति, कर्म आदि के भिन्न भिन्न मार्गों से उसी एक की प्राप्ति बतलाई है और साहित्य का रस भी उसी के समकक्ष प्रतिष्ठित किया गया है। शास्त्रकारों का कथन है कि साहित्य के रस का आनंद अलौकिक है और वह आनंद ब्रह्मानंद सहोदर है। पीने से प्यास बुझती है, यह तृप्ति लौकिक है और जल का आस्वाद भी लौकिक है। परंतु साहित्य का रस लौकिक नहीं है। हमारी लौकिक इच्छाएँ साहित्य में भावना का रूप धारण करके परिष्कृत हो जाती हैं। जब किसी ग्रंथ में हम लौकिक घटनाओं का वर्णन पढ़ते हैं तब वे हमारे स्मृति-पटल पर अपना भावना-चिह्न

अंकित करती हैं। उनका आस्वाद हमारे लौकिक आस्वाद से भिन्न होता है।

इस प्रकार साहित्य के अनंत भावों को रस के अलौकिक आनंद में सन्निविष्ट कर शास्त्रकार ने साहित्य-कला का रूप निरूपित कर दिया। यदि भावों के साथ रस के अलौकिकत्व की योजना न की जाती तो साहित्य का व्यक्तित्व स्पष्टतः प्रकाश में न आता। साहित्य भी अन्य कलाओं की भाँति एक नैसर्गिक और अखंड सृष्टि है। जीवन के असंख्य रंग-रूपों से साहित्य की कला शोभाशालिनी बनती है। हमारे असंख्य भावों से उत्पन्न रस ही साहित्य की सजीव आत्मा है, यही उसकी मूल वस्तु है। इस मूल वस्तु का अस्तित्व जब तक है तब तक साहित्य साहित्य है। उसमें अनेक प्रकार की उपाधियाँ लग सकती हैं, वह स्वयं अनेकानेक रूप धारण कर सकता है, परंतु इससे उसका वास्तविक रूप नष्ट नहीं होता, अनेकानेक भावों के नियमित संयोग से ही रस की निष्पत्ति होती है जिसे अलौकिक आनंद प्रदान करनेवाला माना गया है। अलौकिक से परलोक, भूतविद्या, अध्यात्म आदि का अर्थ कभी नहीं समझा जाता। अलौकिक का सीधा-सादा अर्थ है काल्पनिक और मानसिक। इसी से लौकिक बातों में सभी लोग लग जाते हैं पर अलौकिक की ओर कल्पना-संपन्न और शास्त्र-पारंगत विद्वान् ही जाते हैं। लौकिक आनंद इसी लोक में—हमारे इसी स्थूल शरीर और

साहित्य-कला का रूप

इंद्रियों के लोक में—मिलता है, पर अलौकिक आनंद सूक्ष्म मानस-लोक में और कभी कभी उससे भी ऊपर उठने पर प्राप्त होता है। हमें इतना स्मरण रखना चाहिए कि साधारण 'आहार और निद्रा' के सुख का आधार हमारी सहज प्रवृत्तियाँ और इंद्रियाँ दोनों होती हैं, पर प्रवृत्तियों का ही प्राधान्य रहता है। आगे बढ़ने पर जिसे हम इंद्रिय-सुख अथवा लौकिक सुख कहते हैं उसमें इंद्रियों के साथ मानस कल्पना का भी योग रहता है, पर प्राधान्य रहता है इंद्रियों का ही, इसी से यह सुख भौतिक और स्थूल प्राकृतिक सुख माना जाता है। अंत में वह भूमिका आती है जिसमें कल्पना ही प्रधान हो जाती है और कल्पना के द्वारा विचित्र अनुभूति होती है। इसे कहते हैं अलौकिक। इसका भी संबंध मनुष्य के भौतिक जगत् से रहता है पर गौण रूप से। लौकिक आनंद में पहले लोक आता है, तब आती है कल्पना और अलौकिक आनंद में पहले कल्पना आती है और फिर उस मानस अनुभव का स्थूल इंद्रियों पर प्रभाव पड़ता है। इसी से लौकिक आनंद बिना अभ्यास और ज्ञान के भी संभव होता है, पर अलौकिक आनंद के लिए अभ्यास और ज्ञान अनिवार्य होते हैं। आत्मानंद और काव्यानंद अलौकिक माने जाते हैं, क्योंकि वे कभी अभ्यास और ज्ञान के बिना प्राप्त ही नहीं हो सकते।

हमारा भाव-जगत् सदैव अपनी निरपेक्ष पूर्णता में विराजमान है। मनुष्य की कल्पना, भावना, बुद्धि, विवेक,

नित्यप्रति उन्नति ही करते जा रहे हैं, पर उनके संगम से निकली हुई यह भाव-धारा अजस्र, अखंड तथा तद्रूप ही बनी रहती है।

साहित्य और विज्ञान

साहित्य का जगत् भावना और कल्पना का जगत् है और विज्ञान का जगत् बुद्धि-वैभव का जगत् है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि विज्ञान में भावना और कल्पना की आवश्यकता ही नहीं पड़ती अथवा साहित्य में बुद्धि-वैभव का कुछ स्थान ही नहीं है। वास्तव में दोनों का पारस्परिक संबंध घनिष्ठ है। साहित्य यदि मानव-जीवन की विकसित बुद्धि का लाभ नहीं उठा सकता तो अयोग्य ही कहा जायगा। उसी प्रकार विज्ञान यदि विकसित मानव-भावनाओं के अनुरूप अपने को उपयोगी नहीं बनाता तो हानिकर ही होता है। सभ्य देशों के साहित्य और विज्ञान सदैव कंधे से कंधा मिलाकर ही चलते देखे जाते हैं। मनुष्य मात्र का अधिक से अधिक हित दोनों के इसी समन्वय से संभव है। दोनों को एक दूसरे का आश्रय लेकर उन्नति करनी चाहिए; परंतु इतना कर चुकने के उपरांत हम उस मौलिक अंतर को नहीं भूल सकते जिसके कारण साहित्य और विज्ञान दो स्वतंत्र विद्याएँ बनी हुई हैं। वैज्ञानिक तो वस्तुओं के रूप, आकार, रचना, गुण, स्वभाव और संबंध पर विचार करता, उन्हें परस्पर मिलाता, उनका वर्गीकरण करता तथा उन कारणों या क्रियाओं का पता लगाता है जिनके अधीन होकर वे अपना वर्तमान रूप धारण करती हैं। इस

प्रकार स्पष्ट ही विज्ञानशास्त्री के क्रिया-कलाप में बौद्धिक अन्वेषण और सिद्धांत-निरूपण की ही प्रधानता है। दर्शन-शास्त्र, रसायन, भूगर्भ आदि अनेक शास्त्र विज्ञान की ही कोटि में आवेंगे। इनका नित्यप्रति विकास हो रहा है और नवीन अनुसंधानों के कारण प्राचीन अनुसंधान भ्रांत सिद्ध हो रहे हैं। मनुष्य उनका त्याग करते जाते हैं। नये नये शास्त्र बनते जा रहे हैं, जो मनुष्य की बुद्धि तथा अन्वेषणप्रियता के निदर्शन हो रहे हैं। विज्ञान का प्रत्येक आचार्य जगत् के रूप का विषयात्मक विचार करता है और एक एक प्राकृतिक तत्त्व को मिलाकर सादृश्य के आधार पर कई वर्ग स्थापित करता और फिर छोटे छोटे वर्गों से एक बड़ा वर्ग बनाता है। इस प्रकार वह सृष्टि में शृंखलता और क्रमशीलता स्थापित करने का उद्योग करता है। विज्ञान का उद्देश्य पदार्थों की क्रमबद्ध बुद्धिसंगत और सहेतुक व्याख्या करना है, जिसके अंतर्गत उसके गुण, उद्भव और इतिहास की व्याख्या रहती है, जो कार्य-कारण संबंध तथा प्राकृतिक नियम के आधार पर की जाती है। इसके अतिरिक्त जो कुछ बच जाता है, उससे विज्ञान का न कोई संबंध है, न प्रयोजन।

हम संसार के नित्य व्यवहार में देखते हैं कि पदार्थों या घटनाओं के वास्तविक रूप और उनके कार्य-कारण से हम आकृष्ट तो अवश्य होते हैं पर यह आकर्षण हमारी बुद्धि को ही उत्तेजित न कर हमारे मनोवेगों को भी गतिशील करता है।

जब हम विज्ञान के अध्ययन में लगे रहते हैं तब समस्त सृष्टि की प्राकृतिक घटनाओं को एक समष्टि समझते हैं, जिनकी जाँच करना, जिनका वर्गीकरण करना और जिनका कारण ढूँढ़ निकालना हमारा कर्तव्य होता है। सारांश यह है कि वैज्ञानिक का लक्ष्य कुछ सिद्धांतों पर पहुँचना होता है और उसका कार्य वहीं समाप्त भी हो जाता है। परंतु साहित्य का लक्ष्य उससे भिन्न है। यह नहीं कि साहित्य में कुछ सिद्धांत नहीं होते अथवा वैज्ञानिक सिद्धांतों का साहित्यकार पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। वास्तविक बात यह है कि सिद्धांत-निरूपण साहित्य का कार्य नहीं है। जब विज्ञान वस्तुओं और घटनाओं के संबंध में पूरा पूरा समाधान करनेवाला कारण बता देता है तब भी हम उनकी अद्भुतता और सुंदरता से प्रभावित होते ही हैं। यह साहित्य की भूमि है। कैसी ही स्पष्ट वैज्ञानिक व्याख्या क्यों न हो वह हमारे उस प्रभाव को निर्मूल नहीं कर सकती, उलटे वह उसके उत्कर्ष ही का कारण होती है। साधारणतः हमें सृष्टि की अद्भुतता और सुंदरता का अनुभव कुंठित सा होता है पर जब हमारी संवेदना उत्तेजित हो उठती है और हमारी कल्पना काम करने लगती है तब यही अनुभव बहुत स्पष्ट और प्रभावोत्पादक हो जाता है और हममें आनंद, आश्चर्य, कृतज्ञता, आदर, मान आदि का उद्रेक करता है। विज्ञान के विकास के साथ साथ हमारे इन आनंद, आश्चर्य, कृतज्ञता आदि के रूप बदलते रहते हैं, पर मूलतः उनका रूप वही बना रहता है।

विज्ञान का एक आविष्कार आज हुआ, कल दूसरा अधिक उपयोगी अथवा सार्थक आविष्कार हुआ है। बस आंज की बात कल भुला दी गई। उसका प्रयोजन ही नष्ट हो गया, परंतु साहित्य में नाश किसी का नहीं होता, वह नित्य भाव-जगत् की वस्तु होने के कारण सब दिन सतत जागरित रूप में विद्यमान रहता है, साहित्य की यह सार्वभौमिकता कभी भुलाई नहीं जा सकती।

अपने व्यापक रूप में साहित्य संपूर्ण भाव-जगत् को स्पर्श करता है। संस्कृत में तो काव्य, नाटक, चंपू आदि को ही काव्य कहने की परिपाटी है, परंतु इस अध्याय में सर्वत्र उसका व्यवहार अधिक विस्तृत अर्थ में किया गया है। तार्किक श्रेणी-विभाजन, शास्त्रीय विचार-पुष्टि अथवा वैज्ञानिक अनुसंधानों के वर्गीकरण आदि को छोड़कर शेष अधिकांश विषयों के ग्रंथ हमारे भाव-जगत् से संबंध रखते हैं। उन्हीं की साहित्य संज्ञा है। जिन ग्रंथों में ग्रंथकार का आशय किसी निश्चित सिद्धांत का अवयव संघटन करके तर्क-सम्मत प्रमाण उपस्थित करना मात्र नहीं है, उन सबमें साहित्य का भाव-सौंदर्य किसी न किसी रूप में देख ही पड़ता है। इस दृष्टि से हमारी साहित्य-सामग्री कितनी विशाल है, यह हम सहज ही समझ सकते हैं। प्राचीन काल से अब तक उस अपार सामग्री को प्रकाशित करके मनुष्य जाति ने कितना बड़ा भांडार भर दिया है। कविता, नाटक, गद्य, पद्य, इतिहास, पुराण, काव्य, गीत ये ही नहीं; साहित्य के

असंख्य अन्य रूप हैं। इन सबमें ही सन्निविष्ट उसकी ज्ञान-राशि, उसकी आशा-निराशा, उसकी सौंदर्य-लालसा, उसके जीवन का प्रत्येक सजीव अंग अपनी अपनी शोभा दिखा रहा है। कितनी जातियों ने कितनी भाषाओं में, कितनी लिपियों में, कितनी रीतियों से अपने भाव-कुसुम सजाकर रखे हैं। साहित्य की यह प्रदर्शिनी अपार शोभाशालिनी है। इसकी ओर किसकी दृष्टि आकर्षित न होगी। आकर्षित होकर किसका मन मुग्ध न होगा। इस विचार के अनुसार कुछ साहित्य-शास्त्रियों ने शास्त्र को दो भागों में बाँटा है। एक ज्ञान का साहित्य और दूसरा शक्ति या भाव का साहित्य। ज्ञान के साहित्य में ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है तथा नई बातों का पता लगता जाता है त्यों त्यों इसकी वृद्धि होती जाती है। पर भाव या शक्ति के साहित्य में यह बात नहीं है। वह सृष्टि के आदि से लेकर अब तक ज्यों का त्यों बना हुआ है। हाँ उसके प्रदर्शन में, उसकी अभिव्यक्ति के ढंग में काल, देश तथा व्यक्ति के अनुसार परिवर्तन होता रहता है और जब तक वह सजीव है, होता रहेगा।

साहित्य

साहित्य शब्द भी अब दो विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लगा है। बोलचाल की भाषा में हम किसी भी छपी हुई पुस्तक को साहित्य की संज्ञा देते हैं, यहाँ तक कि दवाइयों के साथ आनेवाले छपे हुए पर्चे भी साहित्य कहलाते हैं। किंतु दूसरे और अधिक उपयुक्त अर्थ

में साहित्य से उन्हीं पुस्तकों का बोध होता है जिनमें कला का समावेश है।

अधिकतर पुस्तकें पाठकों की ज्ञानवृद्धि के लिए लिखी जाती हैं। इन पुस्तकों के लेखक का उद्देश्य पढ़नेवालों की जानकारी बढ़ाने का होता है। इतिहास लिखनेवाले का आशय होता है कि लोग विगत काल की घटनाओं और महापुरुषों के विषय में कुछ जान जायँ, भूगोल-संबंधी पुस्तकों का लेखक पाठकों को संसार के विविध देशों का परिचय कराना चाहता है, और ज्योतिष शास्त्र की पुस्तकें हमें ग्रहों और नक्षत्रों की अवस्था का ज्ञान कराती हैं। इसी प्रकार विज्ञान की जितनी पुस्तकें हैं सभी मनुष्य की जानकारी से संबंध रखती हैं और उसके ज्ञान की सीमा अधिक विस्तृत करती हैं। ये पुस्तकें, जिनका संबंध मनुष्य के ज्ञान-भाव से है, साहित्य की गणना में नहीं आतीं। साहित्य का उद्देश्य केवल मनुष्य के मस्तिष्क को संतुष्ट करना नहीं है, वह तो मनुष्य-जीवन को अधिक संवेदनशील और अधिक सुंदर बनाने की चेष्टा करता है। साहित्य के सहारे मनुष्य जीवन के दुःख और संकटों को भूल सकता है, वह आपदाओं से भरे हुए वास्तविक संसार को छोड़कर साहित्य के भाव-जगत् में, कला के सौंदर्य-लोक में विचरण कर सकता है। वास्तव में साहित्य की सीमा के अंतर्गत उन्हीं पुस्तकों की गणना हो सकती है जो इस महान् उद्देश्य की पूर्ति करती हैं या ज्ञान-पूर्ति के आदर्श को सामने रखकर लिखी गई

हैं। साहित्य और सुरुचि का अभेद्य संबंध है और "साहित्य को हमारी उस रुचि को तृप्त करने में समर्थ होना चाहिए जिसको हम अपने या किसी दूसरे के सामने प्रकट करने में लज्जित न हों।" तोता मैना के किस्से के समान गंदी किताबें न जाने कितने अर्द्ध-शिक्षित लोगों को अनंत आमोद प्रदान करती हैं किंतु वे साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं, क्योंकि वे मानव की सुसंस्कृत रुचि की तृप्ति का विधान नहीं कर पातीं।

'काव्य' शब्द का वही अर्थ है जो साहित्य शब्द का वास्तविक अर्थ है। साहित्यदर्पणकार ने काव्य को रसात्मक वाक्य बताया है अर्थात् काव्य के द्वारा पाठक अथवा श्रोता के चित्त में रस की उत्पत्ति होती है। रस की उत्पत्ति का अर्थ है आनंदपूर्ण एक विशेष मानसिक अवस्था का उत्पन्न हो जाना। 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है' यह परिभाषा 'रसगंगाधर' नामक ग्रंथ की है। 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादन' का आशय है सौंदर्य की सृष्टि करके पाठक तथा श्रोता के मन में आनंद उत्पन्न करना। काव्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी प्रकार के ज्ञान की अवगति करावे, उसके लिए सबसे आवश्यक और विशेष बात यही है कि वह अपने विषय तथा वर्णन-शैली से पढ़नेवालों के हृदय में उस आनंद का प्रवाह बहाये जो रसानुभव या रस-परिपाक से उत्पन्न होता है। अथवा दूसरे शब्दों में इस तरह कह सकते हैं कि काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनंद या चमत्कार की सृष्टि करे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य कला है और 'काव्य' शब्द 'साहित्य' का समानार्थक है। बहुत से लोग 'काव्य' को कविता के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, किंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि कविता काव्य का एक अंग मात्र है। कविता के अतिरिक्त अनेक प्रकार की रचनाएँ काव्य अथवा साहित्य की श्रेणी में आती हैं। किसी पुस्तक को हम काव्य या साहित्य की उपाधि तभी दे सकते हैं जब जो कुछ लिखा गया है वह कला के उद्देश्यों की पूर्ति करता है। यही एकमात्र उचित कसौटी है। साहित्य के अंतर्गत कविता, नाटक, चंपू, उपन्यास, आख्यायिकाएँ आदि सभी आ जाते हैं। ज्योतिष, गणित, व्याकरण, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के ग्रंथ कलात्मक साहित्य में परिगणित नहीं हो सकते, यद्यपि स्थूल रूप से उन्हें भी साहित्य कह लिया जाता है।

मनुष्य स्वभाव से ही क्रियाशील प्राणी है, उसके लिए चुपचाप बैठा रहना असंभव है। वह कुछ करने और कुछ उत्पन्न करने के लिए व्याकुल रहता है। मनुष्य-स्वभाव की एक और विशेषता यह है कि वह अपने को प्रकट किये बिना नहीं रह सकता। असभ्य से असभ्य जंगली लोगों से लेकर संसार के अत्यंत सभ्य लोगों तक में अपने विचारों और मनोभावों को प्रकट करने की प्रबल इच्छा रहती है। मानव-स्वभाव की इन्हीं दोनों विशेषताओं की प्रेरणा से साहित्य का निर्माण होता है। साहित्य मन और स्वभाव की उपज है।

इसलिए, जिन बातों का प्रभाव मनुष्य के स्वभाव और मनुष्य के जीवन पर पड़ता है वे साहित्य में प्रतिबिंबित होती हैं।

साहित्य पर सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव साहित्यकार के व्यक्तित्व का पड़ता है। साहित्यकार जो कुछ लिखता है उस पर उसके अनुभव, विचारों और मनोभावों की अटल छाप लगी रहती है। वह मनुष्यमात्र की आकांक्षाओं, इच्छाओं और मनोभावों को प्रकट करता है, किंतु वह इन सबको अपनी रुचि के अनुसार उपस्थित करता है। जहाँ उसने अपने आपको न पहचानकर और अपनी रुचि को दबाकर किसी दूसरे का स्वर गाना प्रारंभ किया, तुरंत वह अपने पथ से भ्रष्ट हो जाता है और उसकी कृति अपना मूल्य खो बैठती है। साहित्यकार में आत्मनिर्भरता एक आवश्यक गुण है, और अनुचित रीति से दूसरे का पदानुगामी होना अक्षम्य दोष है। संसार के जितने बड़े बड़े साहित्यकार हुए हैं उनकी रचनाओं में एक विशेषता होती है जो बाह्य कारणों और परिस्थितियों से परे है। उसका संबंध सीधा लेखक की मनोवृत्तियों और जीवन से होता है। इसी विशेषता के द्वारा हम किसी लेखक की रचना को पहचानते हैं। तुलसीदास की कविता में कुछ ऐसी विशेषता है जो उसी काल के दूसरे हिंदी कवियों में नहीं है। शेक्सपियर के नाटक उस समय के दूसरे नाटककारों की रचनाओं से बहुत सी बातों में समानता रखते हुए भी विभिन्न

साहित्य और साहित्यकार का व्यक्तित्व

हैं। इस प्रकार की विशेषता, व्यक्तित्व की यह छाप, कुछ विशेष प्रकार की रचनाओं में अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। आत्माभिव्यंजक साहित्य (जैसे कि मुक्तक) में हम लेखक के उद्गारों के सीधे संपर्क में आते हैं, हम उसके व्यक्तित्व से सीधा परिचय प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जब साहित्यकार किसी बाह्य पदार्थ या घटना का आश्रय लेकर रचना करता है तब हम लेखक के व्यक्तित्व का सीधा दर्शन नहीं कर सकते। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन रचनाओं में साहित्यकार अपने आप को प्रकट ही नहीं करता। नाटक, वर्णनात्मक कथाओं या इसी प्रकार के दूसरे साहित्य में भी लेखक का व्यक्तित्व प्रस्तुत रहता है; अंतर केवल इतना है कि वह सीधा हमारे सामने नहीं आता।

साहित्य और जातीयता

किसी साहित्य का अध्ययन करते करते हमें इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है कि हमें उस साहित्य का क्रमप्राप्त इतिहास अवगत हो जाता तो बड़ी बात होती। हम उसका और भी गहरा अध्ययन कर सकते। बात यह है कि साहित्य और उसके इतिहास में अन्योन्याश्रय संबंध है। एक के ज्ञान के लिए दूसरे का ज्ञान आवश्यक है। किसी प्रतिभाशाली ग्रंथकार की स्थिति अपने ही काल और अपने ही व्यक्तित्व से सीमाबद्ध नहीं होती, वह उनसे भी आगे बढ़ जाती है, यहाँ तक कि वह पीछे की भी ख़बर लेती है। उसका संबंध भूत और भविष्य

दोनों से होता है। समय की श्रृंखला में कवि या ग्रंथकार बीच की कड़ी के समान होता है। जिस प्रकार श्रृंखला में आगे और पीछे की कड़ियाँ बीचवाली कड़ियों से संलग्न रहकर उस श्रृंखला का अस्तित्व बनाये रहती हैं, उसी प्रकार प्रतिभाशाली ग्रंथकार अपने पूर्ववर्ती ग्रंथकारों का फल-स्वरूप और उत्तरवर्ती ग्रंथकारों का फूल-स्वरूप है। जैसे फूल के अनंतर फल का आगमन होता है, वैसे ही ग्रंथकार भी एक का फल और दूसरे का फूल होता है। भूत और भविष्य के इस संबंध ज्ञान की कृपा से हम वर्तमान ग्रंथकारों तक भी पहुँच जाते हैं। अंत में इस प्रकार चलते चलते हम उनके जातीय साहित्य तक पहुँच सकते हैं। वहाँ तक पहुँचने पर हम इस बात का अनुभव करने लगते हैं कि वह जातीय साहित्य भी कुछ सत्ता रखता है और वह सत्ता सजीव सी है, क्योंकि जैसे जीता-जागता मनुष्य प्राणी प्राकृतिक नियमों के वशीभूत होकर विकास की भिन्न भिन्न अवस्थाओं को पार करता हुआ उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है, वैसे ही जातीय साहित्य भी उन्नति करता जाता है। अतएव किसी साहित्य के अध्ययन में ऐतिहासिक दृष्टि से हमें दो बातों का विचार करना पड़ता है। एक तो उसके परंपरागत जीवन पर, अर्थात् उसके जातीय भाव पर और दूसरे उस जीवन के परिवर्त्तनशील रूप पर, अर्थात् इस बात पर कि वह जातीय जीवन किस प्रकार भिन्न भिन्न समयों के भावों को अपने में अंतर्हित करके उन्हें व्यंजित करता है। अतएव किसी जाति के

काव्य-समूह या साहित्य के अध्ययन से हम यह जान सकते हैं कि उस जाति या देश का मानसिक जीवन कैसा था और वह क्रमशः किस प्रकार विकसित हुआ।

जातीय साहित्य

पहले हमें यह जानना चाहिए कि जब हम किसी देश के जातीय साहित्य के इतिहास का उल्लेख करते हैं, तब उससे हमारा तात्पर्य क्या होता है, अर्थात् जब हम भारतीय आर्य जाति का साहित्य, यूनानी साहित्य, फ्रांसीसी साहित्य, या अँगरेजी साहित्य आदि वाक्यांशों का प्रयोग करते हैं तब हम कौन सी बात व्यंजित करना चाहते हैं। कुछ लोग कहेंगे कि इन वाक्यांशों का तात्पर्य यही है कि उन भाषाओं में कौन कौन से लेखक हुए, वे कब कब हुए, उन्होंने कौन कौन से ग्रंथ लिखे, उन ग्रंथों के गुण दोष क्या हैं और उनके साहित्यिक भावों में क्या क्या परिवर्तन हुए। यह ठीक है, पर जातीय साहित्य में इन बातों के अतिरिक्त और भी कुछ होता है। जातीय साहित्य केवल उन पुस्तकों का समूह नहीं कहलाता जो किसी भाषा या किसी देश में विद्यमान हों। जातीय साहित्य जाति-विशेष के मस्तिष्क की उपज और उसकी प्रकृति के उन्नतिशील तथा क्रमागत अभिव्यंजन का फल है। संभव है कि कोई लेखक जातीय आदर्श से दूर जा पड़ा हो और उसकी यह विभिन्नता उसकी प्रकृति की विशेषता से उत्पन्न हुई हो, परंतु फिर भी उसकी प्रतिभा में स्वाभाविक जातीय भाव का कुछ न कुछ अंश

वर्तमान रहेगा ही, उसे वह सर्वथा छोड़ नहीं सकता। यदि स्वाभाविक जातीय भाव किसी काल में वर्तमान कुछ ही चुने हुए स्वनामधन्य लेखकों में पाया जायगा तो हम कह सकेंगे कि उस काल के जातीय साहित्य की वही विशेषता थी। जब हम कहते हैं कि अमुक काल के भारतीय आर्यों, यूनानियों या फ्रांसीसियों का जातीय भाव ऐसा था तब हमारा यह तात्पर्य नहीं होता कि उस काल के सभी भारतीयों, यूनानियों या फ्रांसीसियों के विचार, भाव या मनोवेग एक से थे। उससे हमारा यही तात्पर्य होता है कि व्यक्तिगत विभिन्नता को छोड़कर जो साधारण भाव किसी काल में अधिकता से वर्तमान होते हैं वे ही भाव जातीय प्रकृति के व्यंजक या बोधक होते हैं और उन्हीं को जातीय भाव कहते हैं, चाहे उन्हें कोई दोष समझे चाहे गुण। उन्हीं जातीय भावों का विवेचनापूर्वक विचार करके हम इस सिद्धांत पर पहुँचते हैं कि अमुक जाति के जातीय भाव ऐसे थे। उन्हीं के आधार पर हम किसी जाति की शक्ति, उसकी त्रुटि और उसकी मानसिक तथा नैतिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा इस बात का अनुभव करते हैं कि उस जाति ने संसार की मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति में कहाँ तक योग दिया। मध्यकाल अर्थात् सन् ईसवी की दसवीं से चौदहवीं शताब्दियों के बीच यूरोप में किसी नवयुवक की शिक्षा तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती थी, जब तक वह यूरोप के सभी मुख्य मुख्य देशों में पर्यटन नहीं कर आता था। इसका उद्देश्य यही था कि वह

अन्य देशों के निवासियों, उनकी भाषाओं, उनके रीति-रिवाज तथा उनकी सार्वजनिक संस्थाओं आदि का ज्ञान प्राप्त कर ले, जिसमें पारस्परिक तुलना से वह अपने जातीय गुण-दोषों का ज्ञान प्राप्त कर सके और अपने शील-स्वभाव तथा व्यवहार को परिमार्जित एवं सुंदर बना सके। साहित्य का अध्ययन भी एक प्रकार का पर्यटन या देश-दर्शन ही है। उसके द्वारा हम अन्य देशों और जातियों के मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन से परिचय प्राप्त करते और उनसे निकटस्थ संबंध स्थापित करके उपार्जित ज्ञान-भांडार के रसास्वादन में समर्थ होते हैं। देशदर्शन के लिए की गई साधारण यात्रा और साहित्यिक यात्रा में बड़ा भेद है। साधारण यात्रा तो हम किसी निर्दिष्ट काल में ही कर सकते हैं, पर साहित्यिक यात्रा के लिए काल का कोई बंधन नहीं होता। यह यात्रा हम चाहे जिस काल में कर सकते हैं, तात्पर्य यह कि हम किसी भी जाति की, किसी भी काल की विद्वन्-मंडली से, जब चाहें, परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए किसी प्रकार का अवरोध या बंधन नहीं है।

इस प्रकार दूसरी जातियों के साहित्य के इतिहास का अध्ययन करके हम उस जाति की प्रतिभा, उसकी प्रवृत्ति, उसकी उन्नति आदि के क्रमिक विकास का इतिहास जान सकते हैं। इस दशा में साहित्य इतिहास का सहायक और व्याख्याता हो जाता है। इतिहास हमें यह बतलाता है कि किसी जाति ने किस

प्रकार अपनी सांसारिक सभ्यता को बढ़ाया है और वह क्या क्या करने में समर्थ हुई। साहित्य बताता है कि जाति-विशेष की आंतरिक वासनाएँ, भावनाएँ, मनोवृत्तियाँ तथा कल्पनाएँ क्या थीं। उनमें क्रमशः कैसे परिवर्तन हुआ, सांसारिक जीवन के उतार चढ़ाव का उनपर कैसा प्रभाव पड़ा और उस प्रभाव ने उस जाति के मनोविकारों और मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन को नये साँचे में कैसे ढाला। साहित्य ही से हमें जातियों के आध्यात्मिक, मानसिक और नैतिक विकास का ठीक ठीक पता मिलता है।

किसी काल के बहुत से कवियों या लेखकों की कृतियों के साधारण अध्ययन से भी हमें इस बात का पता मिल जाता है

साहित्य और काल की प्रकृति

कि कुछ ऐसी बातें हैं जो उन सबकी कृतियों में एक सी पाई जाती हैं, चाहे और अनेक बातों में विभिन्नता ही क्यों न हो। उनके अध्ययन से ऐसा प्रकट होता है कि विभिन्न होने पर भी उनमें कुछ समता है। जब तुलसीदासजी के ग्रंथों पर विचार करते हैं, तब हमारा मन हठात् सूरदास, नंददास, मीराबाई आदि के ग्रंथों पर चला जाता है, तब हम इन सबकी तुलनात्मक जाँच करने और इनकी समता या विभिन्नता का ज्ञान प्राप्त करने में लग जाते हैं। यह संभव है, और कभी कभी देखने में भी आता है, कि एक ही वंश या माता पिता की संतति में जहाँ प्रायः कुछ बातें समान होती हैं, वहाँ कोई ऐसी

भी संतति जन्म लेती है जिसमें एक भी गुण सबके जैसा नहीं होता, उसमें सभी बातों में औरों से भिन्नता पाई जाती है। यही बात किसी निर्दिष्ट काल के किसी विशेष ग्रंथकार में भी हो सकती है, पर साधारणतः उस काल के अधिकांश ग्रंथकारों में कोई न कोई सामान्य गुण होता ही है। इसी सामान्य गुण को हम उस काल की प्रकृति या भाव कह सकते हैं।

किसी निर्दिष्ट काल की प्रकृति जानने में हमें कवि-विशेष ही की कृति पर अवलंबित न होना चाहिए, चाहे वह कवि कितना ही बड़ा, कितना ही प्रतिभाशाली और काव्य-कला के ज्ञान से कितना ही संपन्न क्यों न हो। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह कवि भी तत्कालीन सामाजिक जीवन और सांसारिक परिस्थिति से बचा नहीं रह सकता, उसकी सत्ता स्वतंत्र नहीं हो सकती, वह भी जाति के क्रमिक विकास की शृंखला के बंधन के बाहर नहीं जा सकता। इस बात को ध्यान में रखने से ही हम उसके ग्रंथों के अध्ययन से जातीय विकास का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। भूषण और हरिश्चंद्र के ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन करके हम जान सकते हैं कि उनके समयों की स्थिति और तत्कालीन जातीय सत्ता में कितना अंतर था।

अतएव कवि अपने समय की स्थिति के सूचक होते हैं। उनकी कृतियाँ उनके समय का प्रतिबिंब दिखाने में आदर्श का काम देती हैं। उनके आश्रय से हम अपने अनुसंधान में

अग्रसर हो सकते हैं और उन्हें आधार मानकर साहित्य के इतिहास को भिन्न भिन्न कालों में विभक्त कर सकते हैं। यह काल-विभाग अपने अपने समय के कवियों के विशेष विशेष गुणों के कारण स्पष्टतापूर्वक निर्दिष्ट किया जा सकता है। कविता के विषय, विषय-प्रतिपादन की प्रणाली, भाव-व्यंजना के ढंग आदि की ही गणना गुणविशेषों में है। वे ही एक काल के कवियों को दूसरे काल के कवियों से पृथक् कर देते हैं। जैसे प्रत्येक ग्रंथ में उसके कर्ता का आंतरिक रूप प्रच्छन्न रहता है और प्रत्येक जातीय साहित्य में उस जाति की विशेषता छिपी रहती है, वैसे ही किसी काल के साहित्य में परोक्ष रूप से उस काल की विशेषता भी गर्भित रहती है। किसी काल के सामाजिक जीवन की विशेषता अनेक रूपों में व्यंजित होती है, जैसे राजनीतिक संघटन, धार्मिक विचार, आध्यात्मिक कल्पनाएँ आदि। इन्हीं रूपों में से साहित्य भी एक रूप है, जिस पर अपने काल की जातीय स्थिति की अच्छी छाप रहती है। उसका विचार-पूर्वक अध्ययन करने से वह छाप स्पष्ट दिखाई देने लगती है।

साहित्य का विकास

इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि किसी कवि या ग्रंथकार पर तीन मुख्य बातों का प्रभाव पड़ता है। वे ही किसी कृति-जन्य रूप को स्थिर करने में सहायक होती हैं। वे तीन बातें हैं—जाति, स्थिति और काल। जाति से हमारा तात्पर्य किसी जन-समुदाय के स्वभाव से

है। स्थिति से तात्पर्य उस सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और प्राकृतिक अवस्था से है जो उस जन-समुदाय पर अपना प्रभाव डालती है और काल से तात्पर्य उस समय के जातीय विकास की विशेषता से है। स्मरण रहे कि यद्यपि ये तीनों ही बातें जातीय साहित्य के विकास और ग्रंथकारों के विशेषत्व के उपादान में साधारणतः सहायक हो सकती हैं और होती भी हैं, पर इसका यह अर्थ नहीं कि सभी ग्रंथकार इन तीन शक्तियों के अधीन या इनसे प्रेरित होकर ग्रंथ रचना करते हैं; क्योंकि यदि हम यह मान लेंगे तो किसी कवि या ग्रंथकार की व्यक्तिगत सत्ता अथवा विशेषता का सर्वथा लोप हो जायगा। साधारण लेखकों की अपेक्षा प्रतिभाशाली लेखकों के लेखों में कुछ विशेष प्रकार के गुण पाए जाते हैं। अतएव यदि पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धांत सर्वत्र चरितार्थ हो सकेगा, तो महाकवियों और प्रख्यात लेखकों की विशिष्टता ही क्या रहेगी। संभव है कि उसमें वह प्रकृति या स्थिति भी लक्षित होती हो, पर उसकी विशेषता तो इसी में है कि वह किसी अभिनव प्रकृति, स्थिति या भाव का निर्माता हो, उस पर अपना प्रभाव डालकर उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करने में समर्थ हो और अपनी अलौकिक मानसिक शक्ति से उसे नया रूप-रंग देने—नये साँचे में ढालने—में सफल हो। यही उसकी विशेषता, यही उसका गौरव और यही उसकी प्रतिभा का साफल्य है। कवि जहाँ एक ओर देश और काल की स्थिति से प्रभावित होता है, वहीं

वह अपनी प्रतिभा द्वारा देश और काल का निर्माण भी करता है।

ऊपर कहे हुए सिद्धांत के अनुसार ग्रंथकार पर काल, स्थिति और जाति की प्रकृति का प्रभाव तो स्वीकृत किया जाता है, पर उस प्रकृति पर ग्रंथकार के प्रभाव की उपेक्षा की जाती है। इससे इस सिद्धांत में दोष आ जाता है। सारांश यह कि प्रतिभाशाली ग्रंथकार या कवि अपने काल, जाति और स्थिति की प्रकृति द्वारा निर्मित ही नहीं होता, वह उसका निर्माण भी करता है। वह केवल उनसे प्रभावान्वित होनेवाला ही नहीं, उन पर प्रभाव डालनेवाला भी है। ग्रंथकार या कवि की विशेष सत्ता की उपेक्षा न की जानी चाहिए, किंतु उसे ध्यान में रखकर साहित्य के विकास का रूप या इतिहास प्रस्तुत करना चाहिए।

जातीय साहित्य का अध्ययन

जिस प्रकार किसी ग्रंथकर्ता की कृतियों के अध्ययन में तुलनात्मक और आनुपूर्व्य प्रणालियों के अनुसरण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार किसी जाति के साहित्य के अध्ययन में भी हमें उन्हीं प्रणालियों के अनुसरण की आवश्यकता है। इन प्रणालियों का अवलंबन किये बिना काम ही नहीं चल सकता, तथ्यांश जाना ही नहीं जा सकता। जब हम किसी निर्दिष्ट काल के साहित्य का मिलान किसी दूसरे निर्दिष्ट काल के साहित्य से करते हैं, तब हम उन दोनों में प्रायः कुछ बातें तो समान और कुछ बातें विभिन्न पाते हैं। आपस में

उनका मिलान करना और उस मिलान का ठीक ठीक फल समझना हमारा कर्त्तव्य है। समय के प्रभाव से विचारों, भावों और आदर्शों में परिवर्तन हो जाता है। साथ ही उन्हें प्रदर्शित या व्यंजित करने के ढंग में भी परिवर्तन हो जाता है। कभी कभी तो ऐसा जान पड़ने लगता है कि हमारे पूर्ववर्ती ग्रंथकारों में और हममें बड़ा अंतर हो गया है। साहित्य का अध्ययन यहीं काम देता है। उसी से उस परिवर्तन का अंतर और उस अंतर का कारण समझ में आता है। वही हमें यह जानने में समर्थ करता है कि उन परिवर्तनों के आधारभूत कौन कौन से कारण या अवस्थाएँ हैं और विभिन्न होने पर भी कैसे वे एक ही विचार-शृंखला की कड़ियाँ हैं, जिन पर निरंतर काम में न आने से ज़ंग सा लग गया है और जो जीर्ण सी प्रतीत होती हैं।

साहित्य पर विदेशी प्रभाव

जब दो जातियों में परस्पर संबंध हो जाता है—चाहे वह संबंध मित्रता का हो, चाहे अधीनता का हो, चाहे व्यापार या व्यवसाय का हो—तब उनमें परस्पर भावों, विचारों आदि का विनिमय होने लगता है। जो जाति अधिक शक्तिशालिनी होती है, उसका प्रभाव शीघ्रता से पड़ने लगता है, और जो कम शक्तिशालिनी या निःसत्त्व होती है, अथवा जो चिरकाल से पराधीन होती है वह शीघ्रता से प्रभावान्वित होने लगती है। पराधीन जातियों में मानसिक दासत्व क्रमशः बढ़कर इतना व्यापक हो जाता है

कि शासित लोग शासकों की नकल करने में ही अपने जीवन की कृतकृत्यता समझते हैं। अविकसित जातियाँ दूसरी जातियों की सभ्यता का मर्म समझने में समर्थ नहीं होतीं। उन पर तो शारीरिक शक्ति का ही अधिक प्रभाव पड़ता है। सम-शक्तिशालिनी जातियों में यह विनिमय परस्पर हुआ ही करता है; अथवा यह कहना चाहिए कि जो बात जिस जाति में स्पृहणीय या उत्कृष्ट होती है, उसे दूसरी जाति ग्रहण कर लेती है। इन बातों को ध्यान में रखकर हम किसी साहित्य के अध्ययन से यह जान सकते हैं कि कहाँ तक किस जाति के साहित्य पर विदेशी प्रभाव पड़ा है। भारतवर्ष के पश्चिमी अंचल में पहले पहल यूनानियों का आगमन हुआ और बहुत समय तक उनका आवागमन होता रहा। अतएव उनकी सभ्यता और कारीगरी का प्रभाव यहाँ की ललित कलाओं पर बहुत अधिक पड़ा। जहाँ यूनानियों का प्रभाव अधिक व्यापक और स्थायी था, वहाँ की ललित कला के रूप में विशेष परिवर्तन हुआ। उस समय के उस परिवर्तन के अवशिष्ट चिह्न अब तक, विशेष करके मूर्तियों में, दिखाई पड़ते हैं। गांधार प्रदेश में मिली हुई पुरानी मूर्तियाँ यूनानी प्रभाव से अधिक प्रभावान्वित पाई जाती हैं। उनकी काट-छाँट तथा आकृति में जो सुंदरता दृष्टिगोचर होती है, वह दक्षिणी या मध्यभारत में निर्मित मूर्तियों में नहीं दिखाई पड़ती। मुसलमानों के राजत्वकाल में भारतवासियों पर उनका भी प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव सैकड़ों वर्षों तक

बराबर पड़ता ही गया। फल यह हुआ कि वह अधिक व्यापक और स्थायी हुआ। अन्य वस्तुओं या विषयों पर पड़े हुए इस प्रभाव की विशेष विवेचना हम नहीं करते। हम केवल अपनी काव्य-कला का ही निदर्शन करते हैं। उसकी स्थूल विवेचना से भी हमें यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि शृंगार रस का जो इतना आधिक्य है, वह बहुत कुछ उसी प्रभाव का फल है। अँगरेजों के आगमन, संपर्क और सत्ता का प्रभाव उससे भी बढ़कर पड़ा। हमारे गद्य-साहित्य का विकास तो उन्हीं के संसर्ग का प्रत्यक्ष प्रमाण है। हमारे विचारों, मनोभावों, आदर्शों और संस्थाओं पर भी उन्होंने अपने प्रभाव की स्थायी छाप लगा दी है। उन्होंने यहाँ तक हमारी सभ्यता पर छापा मारा कि जिधर देखिए उधर ही उनका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। बात यह हुई कि हमारी जाति कुछ समय पहले से ही स्वप्नावस्था में पड़ी थी। इस कारण यह प्रभाव अधिक शीघ्रता से दूर दूर तक व्यापक हो गया। जब जागर्ति के चिह्न दृष्टि-गोचर होने लगे, तब एक ओर तो इस प्रभाव का अवरोध होने लगा और दूसरी ओर उसके पृष्ठपोषक उसे स्थायी बना रखने के लिए उद्योगशील होने लगे। साहित्य का अध्ययन करनेवाले, उसका मर्म समझनेवाले तथा उसके विकास का सच्चा स्वरूप पहचाननेवाले के लिए यह परम आवश्यक है कि वह विदेशी प्रभाव की विवेचना करे और देखे कि यह प्रभाव साहित्य पर किस प्रकार पड़ा और किस प्रकार उसने यहाँ के

लोगों के आदर्शों, विचारों, मनोभावों, और लेखन-शैली में परिवर्तन कर दिया। उसे यह भी देखना और बताना चाहिए कि इस परिवर्तन के कारण हमारे काव्य या साहित्य में कहाँ तक चारुता या विरूपता आई। अतएव साहित्य के अध्ययन में यह भी आवश्यक है कि हम उन जातियों के साहित्य के इतिहास में अभिज्ञता प्राप्त करें जिनसे हमारा संबंध हुआ है। ऐसा किए बिना हमारा विवेचन अपूर्ण और अल्पोपयोगी होगा।

तीसरा अध्याय

काव्य

दूसरे अध्याय में साहित्य का विवेचन करते हुए हम कह चुके हैं कि भिन्न भिन्न काव्य-कृतियों का समष्टि संग्रह ही

काव्य और साहित्य

साहित्य है। इसी विचार से संग्रह रूप में जो साहित्य है, मूल रूप में वही काव्य है। किसी देश-विशेष में किसी काल-विशेष में अनेक काव्य-ग्रंथ लिखे जाते हैं। वे ही उस देश के उस काल का साहित्य कहलाते हैं। साहित्य और काव्य में केवल व्यावहारिक भेद मानना चाहिए। हम पिछले अध्याय में सामूहिक रूप से साहित्य का निरूपण कर चुके हैं और अब इस अध्याय में काव्य की उन कृतियों की जो एकत्र होकर साहित्य संज्ञा धारण करती हैं, चर्चा करना चाहते हैं। इस दृष्टि से हम यह भी कह सकते हैं कि स्थूल रूप से ऊपर जिसका परिचय दिया जा चुका है उसी के अंतरंग का विवेचन किया जायगा।

निस्सीम भावजगत् में से, जिसे गोस्वामीजीने 'अपार भाव-भेद' का विशेषण दिया है, यथेच्छ भावराशि चुनकर सुसज्जित

काव्य के उपकरण

करना—यही काव्य की व्यापक व्याख्या हो सकती है। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि चयन और साजसज्जा प्रत्येक काव्य की प्राथमिक

विशेषताएँ हैं। इन दोनों ही विशेषताओं के विभेद प्रायः अगणित होते हैं। इस दृष्टि से काव्य का कोई एक स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता, केवल उसके प्रमुख उपकरण जाने जा सकते हैं। एक व्यक्ति अपने भावों की अभिव्यक्ति करना चाहता है, अर्थात् उसकी इच्छा काव्य-रचना करने की होती है। वह प्रथम बार एक प्रकार के शब्दों तथा वाक्यों का प्रयोग करता है, पर उसे उनसे संतोष नहीं होता, क्योंकि वे शब्द तथा वे वाक्य उसके भावों को व्यक्त करने में असफल और असमर्थ होते हैं। वह पुनर्वार प्रयत्न करता है और इस बार दूसरे शब्दों तथा छंदों आदि से काम लेता है। फिर भी अभिव्यक्ति का स्वरूप उसे असुंदर जान पड़ता है। अनेक बार प्रयत्न करते करते आपसे आप उसकी लेखनी से प्रकृत रचना फूट निकलती है। इसका आनंद वह लेता है और कुछ काल के लिए भावमग्न हो जाता है। इस बार उसकी अभिव्यक्ति यथेष्ट सुंदर हुई, उसके मतानुकूल हुई। यही उसके आनंद का कारण है।

(१) **सौंदर्य**—ऊपर के विचार से 'सौंदर्य' काव्य का मौलिक उपकरण सिद्ध होता है पर यह 'सौंदर्य' वास्तव में है क्या? कलाकार ने प्रथम कई बार प्रयत्न करके जो अभिव्यक्ति की वह सुंदर नहीं हुई। अंत में एक बार वह सुंदर हो गई। उससे उसे आनंद प्राप्त हुआ। परंतु प्रश्न यह है कि वह कौन सी विशेषता है जो उसकी अंतिम बार की अभिव्यक्ति को

सुंदर बना देती है, जिसके अभाव में प्रथम कई बार के उसके प्रयास असुंदर कहे गए। इस प्रश्न का उत्तर सहज नहीं है। काव्यकार की वह अभिव्यक्ति, जो उसे सुंदर प्रतीत हुई है और जिसका उसने सम्यक् आनंद लिया है, यदि काव्य-समीक्षक को दी जाय तो वह भी उसमें कलाजन्य आनंद का अनुभव करेगा। किसी देश या किसी भी काल में उसकी सुंदरता नष्ट न होगी, यद्यपि यह संभव है कि जातीय रुचियों और संस्कृतियों के भेद से एक व्यक्ति उसमें आनंद की वैसी प्रतीति न कर सके जैसी अनुकूल रुचि और संस्कृतिवाला व्यक्ति कर सकता है। किंतु इस कारण कला-वस्तु को देशकालबद्ध नहीं मान सकते। उसे देश-कालातीत, सर्वजातीय और शाश्वत ही मानना होगा। पर यहाँ प्रश्न यह होता है कि काव्य या कला के इस सौंदर्य की क्या कोई सुनिश्चित व्याख्या की जा सकती है। इसका उत्तर नकार में ही देना पड़ता है। परंतु इससे एक बात तो स्पष्ट हुए बिना नहीं रहती कि सौंदर्य काव्य का एक अभिन्न अंग है। यह बात दूसरी है कि सौंदर्य की कोई निश्चित व्याख्या करना असंभव हो वह अव्याख्येय, अनिर्वचनीय या स्वतःसंवेद्य हो।

(२) **रमणीय अर्थ**—रसगंगाधर में कहा गया है कि रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। अर्थ की रमणीयता के अंतर्गत कुछ विद्वान् शब्द की रमणीयता भी स्वीकार करते हैं। प्रश्न यह है कि रमणीयता से किस विशेष तत्त्व का बोध होता

है जिसकी हम एक निश्चित परिभाषा कर सकें। काव्य की व्याख्या करनेवालों ने कहा है—"काव्य के अंतर्गत वे ही पुस्तकें आनी चाहिएँ जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की रीति की विशेषता के कारण मानव-हृदय को स्पर्श करनेवाली हों और जिनमें रूप-सौष्ठव का मूल तत्त्व तथा उसके कारण आनंद का जो उद्रेक होता है, उसकी सामग्री विशेष प्रकार से वर्त्तमान हो।" व्याख्याकार का आशय अर्थ की रमणीयता से स्पष्ट ही है।

(३) अलंकार और रस—रमणीय अर्थ के प्रतिपादन के लिए संस्कृत में अलंकारों की विशेष रूप से योजना की गई है और रस तो काव्य की आत्मा ही माना गया है। अलंकार का प्रयोजन उस अंग-विशेष को अधिक आकर्षक बना देना है जिस पर वह धारण किया जाय। देखनेवालों की आँखें उस अंग-विशेष में गड़ जायँ। इसी प्रयोजन से अलंकारों की सार्थकता है। काव्य में भी अनेक अनेक अर्थालंकार और शब्दालंकार बनाये गये हैं, जिसमें वे पाठकों का ध्यान उस वर्णन-विशेष की ओर आकर्षित कर दें और उनके मानस-नेत्रों को उसमें गड़ा दें। इसका परिणाम यह होना चाहिए कि इससे चित्त किसी प्रबल मनोवेग से चमत्कृत हो जाय और काव्य रसमय होकर उसके लिए आस्वाद्य बन जाय। कभी कभी अलंकार काव्य-कामिनी के लिए भार-स्वरूप बन जाते हैं जिससे उसकी स्वच्छ नैसर्गिक सुंदरता तिरोहित हो जाती है। यह भी देखा जाता है कि एक युग-विशेष के ग्रंथकार जिन अलंकारों को सुरुचि के साथ

सजाते हैं, दूसरे युग के लेखक उन्हें हेय समझते हैं। परिपाटी के अनुसार जिस प्रसंग में जो अलंकार शोभा के आगार और रस का संचार करनेवाले माने गये हैं, समय और रुचि के भेद से वे ही कुरस का भी प्रसार करते हैं। इसलिए अलंकारों की इयत्ता क्या है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यही बातें रसों के लिए भी कही जा सकती हैं। कथन की कोई शैली, विचारों की कोई उड़ान, जब हृदय की घुंडी खोल देती है और किसी प्रबल मनोवेग से चित्त चमत्कृत हो उठता है तब रस की निष्पत्ति होती है। परंतु यह कोई कह नहीं सकता कि काव्य में सर्वत्र रस-निष्पत्ति होनी ही चाहिए। रस का परिपाक तो कहीं कहीं ही अपेक्षित होता है, तभी काव्य की शोभा भी बढ़ती है। अपूर्ण रस के प्रसंग भी काव्य में योज्य होते हैं और उनसे भी काव्य की शोभा होती है।

(४) भाषा—कुछ समीक्षक भाषा को भी काव्य का एक उपकरण मानना चाहेंगे; परंतु विचार करने पर प्रकट होता है कि भाषा काव्य का उपकरण नहीं है। वह काव्य का अभिन्न अंग ही है। भाषा के बिना काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती और न भाव-जगत् की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त भाषा का कोई दूसरा प्रयोजन जान पड़ता है। जैसे जैसे भावों की अभिव्यक्ति अधिकाधिक परिमाण में होती गई है वैसे ही वैसे भाषाओं का विकास भी होता गया है। कुछ विचारक यह मानते हैं कि आरंभ में तो भाषाएँ इसी रूप में विकसित होती गई हैं पर कुछ काल

के अनंतर जब मनुष्य अधिक सभ्य और भाषा के प्रयोग में अधिक योग्य हो गया तब उसने भाषाओं के नैसर्गिक विकास का आसरा न देखकर एक साथ ही उसे बहुसंख्यक शब्दों से संयुक्त कर दिया। इतिहास में तो इस प्रकार का कोई प्रमाण नहीं मिलता, पर यदि यह मान भी लिया जाय तो भी इससे भाषा-विकास की परंपरा नहीं टूटती और न उसे अभिव्यक्ति-परंपरा से भिन्न मानने की आवश्यकता होती है। जिस किसी विद्वद्वर ने अधिक मात्रा में शब्द गढ़-गढ़कर भाषा में भरे होंगे उसने उन शब्दों की पर्याप्त भाव-मूर्तियों की कल्पना भी की ही होगी। निरर्थक अथवा शून्य शब्द तो हो ही नहीं सकते। अंत में यही निष्कर्ष निकलता है कि भाषा का विकास चाहे क्रमशः हुआ हो अथवा किसी विशेष काल में किसी असाधारण रीति से ही हुआ हो, पर भाषा तो भावों की अभिव्यक्ति ही है। काव्य भी अभिव्यक्ति है, इसलिए भाषा को काव्य का उपकरण न मानकर उसे तदाकार मानना ही उचित और बुद्धि-संगत है। संस्कृत-साहित्यज्ञों ने काव्य की व्याख्या करते हुए लिखा भी है 'शब्दार्थौ काव्यम्'। शब्द और अर्थ अर्थात् भाषा और भाव दोनों मिलकर ही काव्य कहे जाते हैं।

इस मत का अपवाद नाटकों के अभिनय में मिलता है। अभिनय के लिए जो रूपक लिखे जाते हैं उनकी अभिव्यक्ति केवल भाषा द्वारा ही नहीं होती, रंगशाला के नटों, दृश्यों तथा अन्य उपकरणों से भी होती है। नट तथा नर्तकियाँ

भाव-भंगियों द्वारा नाटककार के आशय को स्पष्ट करती हैं और रंगमंच की सजावट उसकी रचना को अधिक प्रभावशालिनी बना देती है। यह सत्य है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि काव्य और भाषा का अभिन्न संबंध टूट गया। जब रूपक काव्य अभिनय द्वारा अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं तब हमें यह मानना चाहिए कि काव्य अपने प्रकृत क्षेत्र से बाहर जाकर दूसरे उपकरणों को उधार ले रहा है। कलाओं में इस प्रकार का आदान-प्रदान सदैव चला करता है। कला के विवेचन में हम यह दिखा चुके हैं कि काव्य-कला किस प्रकार चित्र-कला आदि से संबंधित है। अभिनयों में यदि रूपक को नृत्त तथा भाषण आदि की सहायता लेनी पड़ती है तो यह अस्वाभाविक नहीं, उचित ही है। यह तो हम आरंभ ही में कह चुके हैं कि मूल में सब अभिव्यक्तियाँ एक हैं, भेद केवल व्यावहारिक है।

सभी कलाओं की भाँति कलाओं का सत्य भी असाधारण होता है, क्योंकि वह सामान्य सत्य से नहीं मिलता। काव्य में प्रत्येक वाक्य अन्य संयोगी वाक्यों से संश्लिष्ट होकर अपना अर्थ व्यक्त करता है। अतः उसमें सर्वत्र अर्थवाद ही का प्रसार होता है। यद्यपि संस्कृत के आचार्यों ने शब्दों की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का अलग अलग उल्लेख किया है पर काव्य में प्रयुक्त होने पर शब्दों की ये सभी शक्तियाँ वही प्रभाव नहीं रखतीं जो वस्तु-जगत् में वे रखती हैं। काव्य-जगत् में आकर प्रत्येक शब्द

काव्य का सत्य

हमारे उन भावों को जागरित करता है जो वासना रूप में इसमें निहित रहते हैं। हमारी कल्पना, स्मृति आदि शक्तियाँ इस कार्य में योग देती हैं और हम एक असाधारण रूप में काव्य का अर्थ ग्रहण करते हैं। जैसे चित्र की रेखाएँ रेखा मात्र नहीं हैं, उनका अर्थ वही नहीं है जो एक त्रिकोण क्षेत्र या चतुर्भुज क्षेत्र की रेखाओं का होता है, उसी प्रकार काव्य के वाक्य, पद आदि असाधारण रूप में एक संश्लिष्ट अर्थ ध्वनित करते हैं। इसी असाधारण अर्थ-ग्रहण से काव्य एक विशेष प्रकार का आनंद प्रदान करता है जिसे संस्कृत के साहित्यशास्त्री अलौकिक आनंद कहते हैं और जिसे हम पिछले अध्याय में असाधारण आनंद कह चुके हैं।

कवि अपने काव्य का निर्माण करता हुआ वस्तु-जगत् और कल्पना-जगत् की अनोखी अनोखी वस्तुओं को रूप प्रदान करता है जो साधारण दृष्टि से स्वप्न में भी सच नहीं हो सकतीं। वह ऐसी ऐसी उपमाएँ लाकर रखता है जिनके केवल एक गुण-विशेष या आकार-विशेष का ही अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है और शेष सब से कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। काव्य-जगत् के ये सब प्रसंग रहस्यमय हैं, परंतु इनके सत्य होने में संदेह नहीं किया जा सकता। ये आपसे आप अपना अनोखा-पन दूर कर सत्य बनकर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। हम एक नाटक का अभिनय देखते हैं। उस नाटक के पात्रों से हमारा कभी का परिचय नहीं। जो अभिनेता हमारे सामने उपस्थित

होकर अभिनय कर रहे हैं उनसे हमारा कोई संबंध नहीं। जो कुछ हम देखते हैं वह हमारी वास्तविक परिस्थितियों से बहुत दूर है। पर क्या बात है कि हम उससे प्रभावित होते हैं? बात वही है जो एक चित्र के देखने पर होती है। नाटक भी एक प्रकार का चित्र ही है। वह ठीक चित्र-कला के नियमों का पालन करता है। चित्र छोटे से छोटे आकार में बड़े से बड़ा बोध करा सकता है। प्रत्येक रेखा से एक अनोखी व्यंजना हो जाती है। यही कला का सत्य है। यही काव्य का भी सत्य है।

साधारणतः काव्य के सत्य से हमारा अभिप्राय यह होता है कि काव्य में उन्हीं बातों का वर्णन नहीं होना चाहिए, और न होता ही है, जो वास्तविक सत्यता की कसौटी पर कसी जा सकती हैं, पर उनका भी वर्णन होता है और हो सकता है जो सत्य हो सकती हैं। अब प्रश्न यह हो सकता है कि यदि यह बात है तो काव्य में अत्युक्ति अलंकार का कोई स्थान ही नहीं होना चाहिए। वह तो सर्वथा असत्य होगा। पर बात ऐसी है कि हम अपने वर्णन द्वारा पाठकों के हृदय पर वही भाव जमाना चाहते हैं जो हमारे हृदय-पटल पर जम चुका है। इसलिये उस प्रभाव को ठीक ठीक शब्दों द्वारा प्रकट करने के लिये हमें उसे बढ़ाकर कहना पड़ता है। 'कनक भूधराकार शरीरा' कहने से यह तात्पर्य नहीं होता कि वास्तव में उसका शरीर सोने के पहाड़ के आकार का था। वरन् बात यह होती है कि सोने के पहाड़ को देखकर जो भाव-चित्र हमारे मन

पर अंकित होता है, उस शरीर को देखकर उसकी लंबाई-चौड़ाई तथा ऊँचाई का भी वैसा ही प्रभाव हम पर पड़ता है। अतएव अत्युक्ति अलंकार में असत्यता का आरोप करना काव्य के मूल उद्देश्य की उपेक्षा करना है।

सत्यं, शिवं, सुंदरम् के तीनों गुण का आरोप जब से काव्य-साहित्य में किया गया तब से प्रत्येक साधारण समीक्षक के विचार में इन तीनों गुणों का अभिन्नत्व मान्य हो गया है। जब कभी काव्य की

काव्य और लोकहित

चर्चा होती है, इनका उल्लेख किया ही जाता है। परंतु जिन्होंने इस विषय में कुछ गंभीर विचार किया और तथ्य को जानने की चेष्टा की है, वे समझते हैं कि सौंदर्य तथा सत्य तो काव्य के आवश्यक अंग हैं; परंतु उसके 'शिवत्व', 'लोकहित' आदि के विषय में मतभेद है। आधुनिक यूरोप में इस विषय को लेकर अपार विवाद हुए हैं। कुछ विद्वानों ने लोकहित को काव्य से बहिष्कृत कर दिया है और उसकी चर्चा करना भी काव्य की सीमा में अनुचित समझा है। इसके विपरीत कुछ धार्मिक प्रकृति के लोगों ने काव्य को लोकहित का साधन मात्र मान लिया है और उसके शेष गुणों की अवहेलना कर दी है। इन परस्पर विरोधी मतों के बीच में कितने ही अन्य मत खड़े हुए हैं जिन्होंने बड़े ही सुदृढ़ आधारों पर अपना अड्डा जमाया है। हम कह सकते हैं कि काव्य में यही एक विषय है जिस पर प्रत्येक पक्ष से विचार किया गया है।

लोकहित का ध्यान करके उपदेशों का पहाड़ निर्माण करने लगे और कला के वास्तविक सौंदर्य तथा उसके असाधारण प्रभाव का मूल तत्त्व ही बिसार दे।

पर केवल सौंदर्य से मुग्ध होकर अथवा संवेदनापूर्ण एक झलक पाकर भी काव्य-रचना की जा सकती है, और की गई है। उस सौंदर्य अथवा उस वेदना की झलक उस काल में आकर स्वयं लोकहित बन जाती है और काव्य के लिए यही मूल लोकहित है। काव्य तथा कला के संख्याहीन रूपों को देखते हुए और उसके प्रभाव को समझते हुए किसी रूढ़िबद्ध, नियमित लोकहित को हम काव्य या कला का अंग नहीं मान सकते। हाँ, कलाओं का लोकपक्ष हमें स्वीकार है और कला-संबंधी आरंभिक विवेचन में हम यह कह चुके हैं कि संसार के अधिकांश श्रेष्ठ कलाकार धार्मिक और उच्च प्रकृति के महापुरुष हो गये हैं।

अध्ययन की सुविधा के लिए काव्य के कुछ मुख्य मुख्य विभाग कर लिये जाते हैं जो केवल व्यावहारिक होते हैं।

कुछ व्यावहारिक विभाग

इस पुस्तक में भी उसी रीति से काव्य के विभाग किये जायँगे और उनमें से कुछ प्रचलित प्रधान विभागों का विवेचन किया जायगा, परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई एक विभाग किसी दूसरे की अपेक्षा मौलिक रूप से प्रधान है अथवा उसकी महत्ता अधिक है। कलात्मक सत्य को प्रकट करने के लिए काव्य की

अनेक शैलियाँ बना ली गई हैं। अपने अपने स्थान पर सब का समान महत्त्व है। जब मानव-मन किसी रागमयी कल्पना से उद्वेलित होकर अभिव्यक्त हो उठता है तब वह अभिव्यक्ति प्रायः गीतरूप में होती है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया सर्वत्र देखी गई है। जब उक्त उद्वेलन चित्त की किसी महान् तथा स्थायी प्रेरणा से उत्पन्न होता है अथवा बाह्य संसार की कोई उदात्त घटना इसका कारण होती है तब महाकाव्य का उद्गमन होता है। जब कल्पना का पुट हलका होता है और मनुष्य वास्तविक जगत् के किसी व्यक्ति-विशेष या घटना-विशेष से आकर्षित होकर उसका वर्णन करता है तब गद्यकाव्य, आख्या-यिका आदि का प्रणयन हो जाता है। जब जीवन के किसी लघु अंश को ही चमत्कृत रूप से चित्रित करने की उत्कंठा होती है तब आख्यायिका अथवा खंडकाव्य की सृष्टि की जाती है। इन विभागों के भी अनेकानेक उपविभाग कर लिए गए हैं। फिर मनुष्य के अंतःकरण की कौन सी वृत्ति प्रधान बनकर काव्य के किस रूप में व्यक्त होती है यह हिसाब भी लगाया गया है। परंतु हमको यह स्पष्ट कह देना चाहिए कि इस प्रकार के मानसिक अथवा काव्य संबंधी विभाग तथा उनके पारस्परिक तारतम्य स्वयं ही काल्पनिक हैं। इन्हें केवल साधारण सुविधा तथा परिचयात्मक बोध कराने के विचार से स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार के श्रेणी-विभाग से कभी कभी विशेष क्षति भी पहुँचती है, जिससे सचेत रहना सर्वथा हितकर होगा।

मनुष्य में चार ऐसी मनोवृत्तियाँ हैं जिनसे प्रेरित होकर वह भिन्न भिन्न प्रकार के काव्यों की रचना करने में समर्थ होता है। वे चार मनोवृत्तियाँ ये हैं—(१) आत्माभिव्यंजन की इच्छा, (२) मानव-व्यापारों में अनुराग, (३) नित्य और काल्पनिक संसार में अनुराग, और (४) सौंदर्यप्रियता। सौंदर्यप्रियता नामक मनोवृत्ति तो सब प्रकार के काव्यों में उपस्थित रहती है, पर शेष तीनों मनोवृत्तियाँ आपस में इतना मिल-जुल जाती हैं कि उनको अलग करके उनके आधार पर काव्य को भिन्न भिन्न अंगों और उपांगों में विभक्त करना कठिन है। मान लीजिए कि हम आगरे का ताज देखने गये; उसका वर्णन हम अपने मित्र से करने लगे। उस इमारत को देखकर हमारे मन में जो विचार या भाव उत्पन्न हुए होंगे, उनको हम इस वर्णन में प्रकट करेंगे। उसकी कल्पना करनेवालों, उसके बनानेवालों, उसके कारीगरों के कौशल आदि अनेक बातों पर हमारा ध्यान जायगा और हम वे सब बातें अपने मित्र से कहेंगे। इस कार्य में सौंदर्यप्रियता रूपी मनोवृत्ति को छोड़कर शेष तीनों मनोवृत्तियों का ऐसा सम्मिश्रण हो जायगा कि उनका ठीक ठीक विश्लेषण करना बहुत कठिन होगा। जैसे मानव-जीवन में इन मनोवृत्तियों का सम्मिश्रण होता है, वैसे ही काव्य में भी यह सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है।

पर केवल मनोवृत्तियों के आधार पर ही काव्य के अंगों और उपांगों का निर्णय नहीं हो सकता। हमें यह भी देखना

होगा कि काव्य किन किन विषयों का वर्णन करता है। मनुष्य के जीवन में वर्णन करने योग्य असंख्य बातें होती हैं। उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उनकी गणना करना या उन्हें श्रेणीबद्ध करना एक प्रकार से कठिन ही नहीं, किंतु असंभव है। परंतु प्रधान प्रधान बातों को ध्यान में रखकर हम काव्य के विषयों का विभाग चार भागों में कर सकते हैं। यथा—(१) किसी व्यक्ति का आत्मानुभव अर्थात् किसी के निज जीवन के बाह्य तथा आंतरिक अनुभव में आनेवाली बातों की समष्टि, (२) मनुष्यमात्र का अनुभव अर्थात्-जीवन मरण, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, आशा-निराशा, प्रेम-द्वेष आदि ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें, जिनका संबंध किसी एक ही व्यक्ति से न होकर सारे मनुष्य-समुदाय से होता है। (३) मनुष्यों का पारस्परिक संबंध अर्थात् सामाजिक जीवन और उसके सुख-दुःख आदि। (४) दृश्यमान प्राकृतिक जगत् और उससे हमारा संबंध।

इस प्रकार मनोवृत्तियों और विषयों के आधार पर हम काव्य-साहित्य को कई श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। इन दोनों आधारों के अनुसार हम ये विभाग कर सकते हैं, (१) आत्माभिव्यंजन-संबंधी साहित्य अर्थात् अपनी बीती या अपनी अनुभूत बातों का वर्णन, आत्मचिंतन या आत्म-निवेदन विषयक हृदयोद्गार, ऐसे शास्त्र, ग्रंथ या प्रबंध जो स्वानुभव के आधार पर लिखे जायँ, साहित्यालोचन और कला-विवेचक रचनाएँ, सब इसी विभाग के अंतर्गत हैं। (२) वे काव्य जिनमें कवि

अपने अनुभव की बातें छोड़कर संसार की अन्यान्य बातें, अर्थात् मानव जीवन से संबंध रखनेवाली साधारण बातें लिखता है। इस श्रेणी के अंतर्गत साहित्य की शैली पर रचे हुए इतिहास, आख्यायिकाएँ, उपन्यास, नाटक आदि हैं। (३) वर्णनात्मक काव्य, यद्यपि इस विभाग का कुछ अंश आत्मानुभव और आख्यायिका के अंतर्गत आ जाता है, तथा पात्र-वर्णनात्मक निबंध या कविताएँ इसी श्रेणी में गिनी जा सकती हैं।

इस प्रकार मनोवृत्तियों तथा विषयों के आधार पर सब प्रकार के साहित्य को हम तीन मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं। यहाँ पर यह ध्यान में रख लेना चाहिए कि कवि का काव्य मनुष्य के हृदय को तभी अपनी ओर खींच सकता है जब उसमें अनुरागजनक और कल्पना की वही सामग्री विद्यमान हो, जो पाठक, श्रोता या द्रष्टा के हृदय में विशेष रूप से जागरित रहती है। अर्थात् कवि अपनी मानसिक प्रवृत्ति और कल्पना के सहारे जब कोई भाव प्रकट करता है और जब वह भाव हममें भी प्रतिबिंब उत्पन्न करने में समर्थ होता है, तभी यह कहा जा सकता है कि वह काव्य प्रकृत काव्य है। सारांश यह कि कवि और काव्य-लोलुप के हृद्गत भावों का तादात्म्य होने से ही यथेष्ट आनंद की प्राप्ति हो सकती है।

काव्य के तीन मुख्य उपादान होते हैं—(१) बुद्धितत्त्व अर्थात् वे विचार जिन्हें लेखक या कवि अपने विषय के प्रतिपादन में प्रयुक्त और अपनी कृति में अभिव्यक्त करता है। (२)

रागात्मक तत्त्व अर्थात् वे भाव जिनको उसका काव्य विषय स्वयं उसके हृदय में उत्पन्न करता है और जिनका वह पाठकों के हृदय में संचार करना चाहता है। (३) कल्पना तत्त्व अर्थात् मन में किसी विषय का चित्र अंकित करने की शक्ति जिसे वह अपनी कृति में प्रदर्शित करके पाठकों के हृदय-चक्षु के सामने भी वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है।

भाषा के आधार पर काव्य के दो भेद किए गए—(१) गद्य और (२) पद्य। संस्कृत में एक तीसरा भेद 'चंपु' नाम से माना गया है जिसमें गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण रहता है। आधुनिक काल में गद्य और पद्य ये ही दो भाग सर्वमान्य हैं।

काव्य का अध्ययन

(१) प्रतिभा का परिचय—ग्रंथकर्ता के किसी एक ही ग्रंथ का अध्ययन करके संतोष न करना चाहिए। उसके कुछ ही ग्रंथों को पढ़कर हम उसके विषय में पूरी पूरी अभिज्ञता नहीं प्राप्त कर सकते। कदाचित् आरंभ में किसी ग्रंथकर्ता का एक ही ग्रंथ पढ़कर हम उससे परिचित हो जायँ, परंतु इतने ही पर संतोष करना ठीक नहीं है। हम तो अपने सामने उसकी प्रतिभा का पूरा पूरा चित्र उपस्थित करना चाहते हैं। इसके लिए आवश्यक यह है कि हम उसके सभी ग्रंथों का ध्यान-पूर्वक अध्ययन करें, क्योंकि बिना ऐसा किये हम उसके मस्तिष्क के विकास, उसके स्वभाव, उसके विचारों तथा उसके अनुभवों से पूर्णतया परिचित नहीं हो सकते। हाँ, यदि उसने एक ही ग्रंथ लिखा हो तो लाचारी

है, बात ही दूसरी है। यह हो सकता है कि हम तुलसीदास का रामचरितमानस पढ़कर उसका रसास्वादन कर सकें, और कवि की प्रतिभा से बहुत कुछ परिचित हो सकें, पर यह भी बहुत संभव है, नहीं, एक प्रकार से अनिवार्य भी है कि हम उसके संबंध की बहुत सी बातें जानने से वंचित रह जायँ। यदि हम कवि के समस्त ग्रंथों का अध्ययन करेंगे, तो हम उसके भिन्न ग्रंथों में उसकी प्रतिभा के भिन्न भिन्न रूपों के दर्शन कर सकेंगे, और यह भी जान सकेंगे कि उसने भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न भावों से प्रेरित होकर कैसे अपने को अनेक रूपों में प्रकट किया है। इस प्रकार किसी कवि या ग्रंथकार के समस्त ग्रंथों के अध्ययन से हम उस कवि या लेखक की भिन्न भिन्न कृतियों को आपस में एक दूसरी से मिला सकेंगे, उनकी समता और विषमता या विभिन्नता को जान सकेंगे। उनके विषय, उनके उद्देश, उनकी रचना-शैलियों और उनकी विषय-विवेचन की रीतियों से परिचित हो सकेंगे। ऐसा होने पर हम इस बात का भी अनुभव प्राप्त कर सकेंगे कि किस प्रकार एक ही व्यक्ति ने अपने जीवन के भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न मनोवृत्तियों से प्रेरित होकर अपने स्वरूप को भिन्न भिन्न रूपों में व्यक्त किया है।

(२) **रचना-शैली**—किसी कवि या ग्रंथकार की रचना-शैली भी उसकी कृति को समझने में हमारी सहायक होती है। कुछ लोगों की समझ में साहित्य-शास्त्र के सिद्धांत जानना चुने हुए

लोगों का ही काम है, सबका नहीं। यदि यह सम्मति ठीक हो तो भी साहित्य के अंग-प्रत्यंग की जानकारी प्राप्त किये बिना ही हम लेखन-शैली के आधार पर ही किसी कवि या ग्रंथकार से विशेष परिचित हो सकते हैं। यह प्रायः देखा जाता है कि हम किसी कवि का कोई छंद अथवा किसी ग्रंथकार का कोई वाक्य सुनते ही कह उठते हैं कि यह दोहा बिहारी के अतिरिक्त किसी दूसरे का हो ही नहीं सकता, अथवा अमुक वाक्य अमुक लेखक का ही है। अच्छा तो वह कौन सी बात है, वह कौन सा गुण है, जिसके कारण हम ऐसा कहने में समर्थ होते हैं? इस संबंध में तो पहली बात यह है कि जब हम ऐसा कहते हैं, तब हमारा ध्यान उस कवि या लेखक के भावों या विचारों को प्रकट करने के ढंग पर जाता है। हम अपने किसी मित्र या संबंधी की वाणी सुनते ही उसे पहचान लेते हैं। परिचितों की आवाज में एक विशेषता होती है जिससे हम पूर्णतया अभिज्ञ होते हैं। चाहे हम उस विशेषता का विश्लेषण करने में समर्थ हों अथवा न हों, पर उसे हम पहचान अवश्य सकते हैं और अपने मन में दूसरों की आवाज से उसकी विभिन्नता स्थिर कर सकते हैं। वाणी की यह विभिन्नता हमें अपने मित्र या संबंधी की आवाज पहचानने में समर्थ करती है। इसी प्रकार किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्य-रचना या विचार-व्यंजना का ढंग ही हमें बतला देता देता है कि वह कौन है। हमें सब बातों में उसका जो व्यक्तित्व

दिखाई देता है, उसी से हम कह देते हैं कि यह पद या वाक्य दूसरे का हो ही नहीं सकता। इसी का नाम लेखन-शैली या रीति है।

एक विद्वान् ने रचना-शैली को विचारों का परिच्छद कहा है, पर यह ठीक नहीं, क्योंकि परिच्छद शरीर से अलग रहता है। वह अपना निज का अस्तित्व रखता है। उसकी स्थिति उस व्यक्ति से भिन्न होती है। पर जिस प्रकार मनुष्य से उसके विचार अलग नहीं हो सकते, उसी प्रकार विचारों को व्यक्त करने का ढंग भी उनसे अलग नहीं हो सकता। अतएव शैली को विचारों का परिच्छद न कहकर यदि हम उन विचारों का दृश्यमान रूप कहें तो बात कुछ अधिक संगत हो सकती है। भाषा का प्रयोग तो सभी लोग करते हैं, पर प्रतिभावान् की भाषा कुछ निराले ढंग ही की होती है। वह उसके भावों की क्रीत दासी सी होती है और उसे वह अपने विचारों को प्रकट करने के लिए अपनी इच्छा के अनुसार, अपनी विशेषता के अनुरूप, एक विशेष प्रकार के साँचे में ढाल देता है। उसके भावों, विचारों, मनोवृत्तियों तथा कल्पनाओं का जमघट और अनुक्रम, उपमा, अनुप्रास आदि अलंकारों का प्रयोग, उसकी सूझ, उसकी गंभीरता, निपुणता आदि उद्भावनाएँ और मन की तरंगें, जो उसके मस्तिष्क की भाषा का रूप धारण करके प्रकट होती हैं, उसकी शैली पर विशेषता की छाप लगा देती हैं।

(३) **समयानुक्रम और विकासक्रम**—इस प्रकार के अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि हम यह कार्य किसी निर्दिष्ट

प्रणाली के अनुसार करें। इसमें संदेह नहीं कि सबसे अधिक समुचित और सुगम प्रणाली वह है जिसमें ग्रंथों के आविर्भाव के समय का ध्यान रखकर उनका अध्ययन किया जाता है अर्थात् जिस क्रम से ग्रंथों का आविर्भाव हुआ हो, उसी क्रम से उनका अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन से वे ग्रंथ उस ग्रंथकार के क्रमविकसित मानसिक जीवन और कला-कौशल का सर्वांगपूर्ण और स्पष्ट चित्र हमारे सामने उपस्थित कर सकते हैं। तभी हमें उनमें ग्रंथकार के अनुभव के भिन्न भिन्न रूपों, उसके मानसिक और नैतिक विकासों के क्रमों तथा उसके कौशल की वर्धमान पुष्टि का पूरा पूरा और शुद्ध इतिहास ज्ञात हो सकता है। सारांश यह कि इस प्रकार हमें उसकी प्रतिभा के क्रमविकास का पूरा पूरा ज्ञान हो सकता है। आजकल कुछ लोगों में ऐसी धुन समाई हुई है कि वे किसी प्रतिभाशाली ग्रंथकार के लिखे हुए पत्रों, चिटों तथा अपूर्ण लेखों आदि का संग्रह बड़े उत्साह और अध्यवसाय से करते हैं। यह धुन कहीं कहीं तो पागलपन की सीमा तक पहुँच जाती है। इस संबंध में इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि किसी ग्रंथकार की लेखनी से निकली हुई प्रत्येक चिट्ठी या चिट न कभी एक से महत्त्व की हुई है और न कभी हो ही सकती है। अतएव केवल महत्त्वपूर्ण वस्तुओं का संग्रह करना ही उचित है।

(४) तुलनात्मक प्रणाली—ग्रंथों के अध्ययन में आनुपूर्व्य अर्थात् समयानुक्रम प्रणाली का अवलंबन करने में हमें पद पद

पर कवि की कृतियों की पारस्परिक समानता या विभिन्नता पर विचार करना चाहिए और तदनुसार उसके महत्त्व और उसकी प्रतिभा को तुलनात्मक कसौटी पर कसना चाहिए। इसके अनंतर हमको उस कवि की तुलना ऐसे अन्य कवियों से करनी चाहिए, जिन्होंने उसी या उन्हीं विषयों पर लेखनी चलाई हो, एक ही प्रकार की समस्याओं पर विचार किया हो और जो एक ही प्रकार की स्थिति में स्थित रहे हों, अथवा कारण-विशेष से जिन्हें हमारा मन एक दूसरे से अलग न कर सके; जैसे, यदि हम तुलसीदास जी पर विचार करना चाहें, तो हमारा मन हठात् सूरदास, केशवदास, ब्रजवासीदास आदि पर जायगा और हम उन्हें आपस में मिलाकर उनकी समानता या विभिन्नता का विचार कर सकेंगे। इस प्रकार हम सुगमता से तुलसीदासजी के महत्त्व का निर्णय कर सकेंगे। उनकी प्रतिभा और उनके काव्यकौशल की माप भी हम अच्छी तरह कर सकेंगे। इस प्रकार हम देव, भूषण और मतिराम को साथ साथ पढ़कर उनकी कृतियों के तारतम्य का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

हम यह बात पहले ही लिख चुके हैं कि किसी कवि के विषय में विचार करने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसकी मनोवृत्तियों को समझें, उसकी प्रवृत्तियों को जान सकें, उसके उद्देश्य से अवगत हों और उसकी कवित्व-शक्ति का अनुमान करें। सारांश यह कि उसके अंतःकरण का पूरा विश्लेषण करके

उसकी आत्मा से परिचित हो जायँ। इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए तुलनात्मक प्रणाली ही सबसे उत्तम साधन है।

(५) **जीवन-चरित**—किसी कवि या लेखक के विषय में आलोचनात्मक विचार करने के लिए उसका जीवनचरित जानना परम आवश्यक है। बिना इसके हम यथार्थ आलोचना करने में असमर्थ होंगे। जब कोई ग्रंथ हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, तब हमारे मन में यह बात जानने का कुतूहल आपसे आप उत्पन्न हो जाता है कि उसका कर्ता कौन है, वह कब हुआ, उसके सहयोगी और सहचर कौन कौन थे, उसने अपने जीवन में किस प्रकार और कैसे केसे उद्योग किये, कहाँ तक उसे उनमें सफलता या विफलता रही और उसके ग्रंथ का उसके जीवन से कहाँ तक संबंध है। यदि इन सब बातों का ठीक ठीक पता लग जाय, तो हमें उस कवि या लेखक के ग्रंथ अधिक रोचक और मनोरंजक ज्ञात होंगे और हम उन्हें बड़े चाव से पढ़ेंगे। अतएव किसी ग्रंथकार या कवि की कृति को सुचारु रूप से समझने और उससे आनंद उठाने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसके जीवन की मुख्य मुख्य घटनाओं से परिचित हों, परंतु साथ ही यह भी आवश्यक है कि जीवनचरित विश्वसनीय हो और उसका उपयोग विवेकपूर्वक किया जाय। बिना इन दोनों बातों के अभीष्ट-सिद्धि में वह हमारा सहायक नहीं हो सकता। जीवनचरितों में कभी कभी इतनी तुच्छ और अप्रासंगिक बातें लिख दी जाती हैं, जिनका कुछ भी मूल्य नहीं होता और जो

चरितनायक के यथार्थ जीवन पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाल सकतीं। तुलसीदासजी के रामचरितमानस का महत्त्व जानने के लिए यह आवश्यक नहीं कि हम यह भी जान लें कि उन्होंने कितने मुरदे जिलाये थे, अथवा उस प्रसिद्ध पिशाच से किस भाषा में बातचीत की थी। ये ऐसी बातें हैं जो रामचरितमानस को समझने और उससे आनंद उठाने में हमारी सहायक नहीं हो सकतीं। पर हाँ, अपनी सहधर्मिणी के मायके चले जाने पर अत्यंत आसक्ति के कारण उनका उसके पीछे दौड़ जाना एक ऐसी घटना है जिसका जानना बहुत आवश्यक है, क्योंकि गोस्वामीजी की पत्नी का कहना कि

> लाज न लागति आपु को, दौरे आयेहु साथ।
> धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहहुँ मैं नाथ॥
> अस्थि-चरम-मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
> वैसी जौ श्रीराम महँ, होति न तो भवभीति॥

वह काम कर गया जिससे गोस्वामीजी कुछ के कुछ हो गये। रामचन्द्रजी के भक्तशिरोमणि होकर, रामायण की रचना की बदौलत, हिंदी-साहित्य में सर्वोच्च आसन पर जा विराजे। यदि यह मर्मभेदी बात उनकी पत्नी के मुँह से न निकलती और वह उनके प्रेम का यथोचित बदला देती, तो अन्य लाखों करोड़ों मनुष्यों के सदृश तुलसीदास जी भी अपना जीवनयात्रा पूरी करके परलोकवासी हो जाते और उनका कोई नाम भी न जानता। पर होना तो कुछ और था। वह व्यंग्य तुलसीदासजी के हृदय

में चुभ गया और उसने उन्हें संसार से विरक्त बनाकर राम-भक्ति में ऐसा लीन कर दिया कि वे रामचरितमानस के भक्ति-रस-प्रवाह में लोगों को मग्न करके अपने आप को अमर कर गये। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य तथा काव्यकर्ता का मर्म समझने के लिए यह परम आवश्यक है कि हम कवि या लेखक के जीवनचरित से अपने प्रयोजन की सारवस्तु निकाल लें और निस्सार को छोड़ दें। जीवनचरित को विवेकपूर्वक काम में लाना इसी का नाम है।

(६) श्रद्धा—किसी कवि की कृति को अच्छी तरह समझने के लिए यदि उस कवि के प्रति श्रद्धा नहीं, तो कम से कम सहानुभूति तो अवश्य ही होनी चाहिए। श्रद्धा के बिना कवि के अंतस्तल या आत्मा तक पहुँचकर उससे अवगत होने और उसके गुण-दोष जानने में मनुष्य समर्थ नहीं हो सकता। यह आवश्यक नहीं कि जितने ग्रंथ हम पढ़ें सभी के रचयिताओं के प्रति हममें सहानुभूति या श्रद्धा हो। यह मानना ही पड़ेगा कि संसार में रुचि-वैचित्र्य भी कोई वस्तु है और इसे मान लेने पर यह कहना असंभव हो जायगा कि सभी बड़े बड़े कवियों से हमारी सहानुभूति होनी चाहिए। किसी को वीररसात्मक काव्य के अध्ययन में जितना आनंद मिलता है उतना शृंगार-रसात्मक काव्य में नहीं मिलता। यदि कोई रसिक भूषण से अधिक सहानुभूति और उनमें अधिक श्रद्धा रखता हो और बिहारी को उपेक्षा की दृष्टि से देखता हो, तो यह कोई दोष की

बात नहीं। यह उसका रुचि-वैचित्र्य है जो एक से स्नेह और दूसरे से औदासीन्य या उपेक्षा उत्पन्न करता है। अतएव यह आशा करना व्यर्थ है कि सब लोग सभी कवियों या ग्रंथकारों की कृतियों से एक से आनंद की प्राप्ति कर सकेंगे। पर यह अत्यंत आवश्यक है कि जिस ग्रंथ का हम अध्ययन करना चाहते हों उसके रचयिता से सहानुभूतिपूर्वक अपना परिचय आरंभ करें, और यदि क्रमशः हमारी सहानुभूति श्रद्धा में परिवर्तित हो गई, तो यह समझना चाहिए कि हम उसकी विवेचना के अधिकारी हो गये। पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह श्रद्धा कहीं अंध-विश्वास का रूप न धारण कर ले; क्योंकि अपनी आँखें खोकर हम संसार के प्रदर्शक बनने के अधिकारी न हो सकेंगे। इसी लिए इस कार्य में हमें विवेकपूर्वक अग्रसर होना चाहिए।

चौथा अध्याय

कविता

साहित्य और कला के जिस मौलिक रूप को हमने ऊपर प्रत्यक्ष किया है उसके अनुसार उसकी अखंड सत्ता का गद्य और पद्य की कोटियों में विभाजन किसी तात्त्विक आधार पर नहीं किया जा सकता, तथापि व्यवहार की दृष्टि से गद्य और पद्य में कुछ स्पष्ट अंतर भी दिखाई देते हैं। यद्यपि गद्य के ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जो अलंकार और कल्पना के चमत्कार में उत्कृष्ट पद्य से कम नहीं हैं और पद्य के भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनकी सरल निरलंकार स्वाभाविकता गद्य की भाँति भासित होती है, तथापि पद्य में संगीत-कला की छाया अधिक स्पष्ट और प्रभावशालिनी देख पड़ती है, कल्पना का अधिक अनिवार्य रूप देख पड़ता है और उसकी रसमयता भी अधिक बलवती समझ पड़ती है। गद्य में व्यंजन वर्णों को प्रधानता प्राप्त होती है, पद्य में स्वरों को। पद्य का स्वर अधिकांश में तालबद्ध होता है, गद्य में मनुष्य की बुद्धिक्रिया अधिक प्रबल रूप में प्रतिफलित होती है। पद्य में उसकी भावना की गति अधिक तीव्र होती है, गद्य में चरण पद्य की भाँति नृत्य नहीं करते—उसमें यति आदि का नियम नहीं माना जाता।

गद्य और पद्य

ऐतिहासिकों का मत है कि संसार के साहित्य में आदिकाल से पद्य की ही प्रधानता थी, गद्य का बहुत पीछे से प्रचार हुआ। इस मत का आधार लेकर बहुत से विद्वानों ने गद्य और पद्य के संबंध पर कितनी ही टीका-टिप्पणी की है। मैकाले का कहना है कि जैसे जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है वैसे वैसे कविता का ह्रास हो रहा है। यद्यपि यह किसी अंश तक सत्य है कि भौतिक सभ्यता की वृद्धि के कारण कल्पना और आदर्शमय काव्य की कमी हुई है परंतु इससे किसी अटल नियम का स्थायी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। संभव है इस भौतिकवाद की प्रतिक्रिया का समय आने पर कविता को उसकी पूर्व विभूतियाँ उतनी ही मात्रा में, वरन् उससे भी अधिक, प्राप्त हो जायँ। दार्शनिक रुचि के, अथवा मस्तिष्क की प्रबल शक्ति लेकर उत्पन्न होनेवाले, कुछ विद्वान् भी पद्य के विपक्ष में गद्य को अधिक आदर देते हैं। उनमें से कतिपय यह मत भी प्रकट करते हैं कि आरंभ में जब मनुष्य, जीव-जगत् से अधिक परिचित न होने के कारण, मूर्ख था और बात बात में आश्चर्यचकित हो उठता था तब कविता अधिक उपयोग में लाई जाती थी। जैसे जैसे मनुष्य का ज्ञान बढ़ता गया वैसे ही वैसे गद्य का प्रयोग भी बढ़ता गया। यह धारणा यद्यपि किसी प्रामाणिक आधार पर स्थित नहीं है, किंतु इस सत्य का आभास अवश्य देती है कि गद्य, मनुष्य के व्यावहारिक भाव-विनिमय का साधन होने के कारण, अधिक स्पष्ट और यथार्थोन्मुख होने को बाध्य है।

उसकी नित्यप्रति की उपयोगिता उसकी सुकुमार कला का अपहरण करके, बदले में, उसे एक दृढ़ता और पुष्ट शक्ति प्रदान करती है, जिसका एक अलग महत्त्व है।

कुछ अपर विद्वान् गद्य का सामाजिक प्रचलन देखकर गद्य और पद्य में एक अन्य विभेद बताने का प्रयास करते हैं। गद्य समाज की वस्तु है अतः वह सामाजिक सत्य, यथार्थवाद को अधिक मात्रा में प्रकट करता है और पद्य मनुष्य की अलंकृत भावना की उपज होने के कारण अधिकतर उन उदात्त आदर्शों का व्यंजक बन गया है जो व्यक्ति की उच्च साधना में उसे उपलब्ध होते हैं। कविता की कला अधिक सूक्ष्म और मोहिनी है। वह व्यक्ति की असाधारण परिस्थिति की उपज है, अतः उसमें साधारण लोक-व्यवहार का प्रदर्शन नहीं किया जाता। अधिकांश में वह मानव-मन की अनोखी, गंभीर और सूक्ष्म वृत्तियों का प्रकाशन करती है, इसलिए वे विद्वान् मूल से ही कविता को आदर्शवादिनी मानते हैं। यह अवश्य है कि कविता मनुष्य की संगीतमय मनोवृत्ति का उद्रेक होने के कारण गद्य की अपेक्षा अधिक मार्जित और सुष्ठु होने का दावा कर सकती है, परंतु इसका कोई नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। गद्य में भी कविता होती है और पद्य में साधारण और असाधारण—लौकिक तथा अलौकिक—दोनों ढंग की वस्तुओं का प्रदर्शन होता है।

साहित्य और काव्य का विवेचन करते हुए हमने भावों के उस अपार भेद को देखने और समझने की चेष्टा की जो कला

मात्र का आधार है, साथ ही हमने काव्य के उपकरण—अलंकार, रस, रीति आदि—के तत्त्वों पर भी दृष्टि डाली जो कलाओं के सौंदर्य और प्रभाव के हेतु हैं तथा जिनसे उनके व्यक्तित्व के निर्माण और उत्कर्ष का साधन होता है। इस विचार से सभी कलाओं के दो पक्ष बन जाते हैं, जिन्हें हम क्रमशः भाव-पक्ष और सौंदर्य-पक्ष कह सकते हैं। समाज और व्यक्ति के संस्कार और विकास की सूचना देनेवाले उसके भाव ही हैं, जिनकी परिष्कृति समाज की एक स्वाभाविक क्रिया बन गई है। इन संस्कृत और परिष्कृत भावों को धारण करनेवाले, उत्तरोत्तर उन्नति को प्राप्त करनेवाले, समाज अपने काव्य और कलाओं में अपनी विकसित रुचि का परिचय देते आये हैं। देश और साहित्य का इतिहास समाज के उस विकास का साक्षी-स्वरूप है। मनुष्य के क्रम-विकास, सामाजिक संघटन, महापुरुषों के प्रभाव आदि के कारण देश और जाति के भाव बदलते रहते हैं। इतिहास में अनेक ऐसे विस्मयजनक आख्यान मिलते हैं जिनकी सम्यक् धारणा भी हम नहीं कर सकते। उसका कारण यह है कि हम उन भावों को भूले जा रहे हैं, और नवीन विकासस्थल में प्रवेश कर रहे हैं। कभी कभी एक देश की कविता दूसरे देश को रुचिकर नहीं होती। इसका कारण यह है कि भावों की धारणा भिन्न भिन्न हो गई है। नृशंसता, हत्या और नग्नता के चित्रों पर आधुनिक सभ्य समाज प्रतिबंध लगा रहा है और भारतीय रंगमंच पर

भाव-पक्ष

मृत्यु आदि के दृश्य न दिखाने का विधान है ही; परंतु साधारणतः भाव-जगत् अखंड, सार्वजनीन और स्वसंवेद्य माना जाता है।

भावों की अभिव्यक्ति की शैली ही कविता और कलाओं का रूप धारण करती है। कभी स्वर (संगीत) द्वारा, कभी शब्द (साहित्य) द्वारा और कभी चित्र आदि द्वारा भाव व्यंजित किये जाते हैं और कभी इनके सम्मिलित प्रभाव से भी वह कार्य किया जाता है। अतः कलाओं के अध्ययन में स्वर, शब्द और रेखा आदि की साधना करनी पड़ती है। कविता मुख्यतः शब्द की साधना है किंतु इसके अंतर्गत कितनी ही अन्य साधनाएँ—उदाहरणार्थ छंद, गति, अलंकार, रीति आदि की साधनाएँ भी सम्मिलित हो गई हैं। भारतीय काव्य-विवेचन में कविता और कला का अधिकांश विवेचन रस का आधार लेकर किया गया है। यह रस काव्य आदि का चरम उत्कर्ष और आत्मा माना गया है। रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के संयोग से होती है। काव्य रसात्मक वाक्य ही है। काव्य के गुण और अन्य सुंदर विशेषताएँ उस रस का उत्कर्ष करती हैं और उसके दोष उसका अपकर्ष करते हैं। उसके गुणों में साहित्यिक रीतियाँ और तदनुसार माधुर्य, प्रसाद आदि गुण तथा अनेकानेक काव्यालंकार हैं। दोषों की संख्या साहित्य-शास्त्रों में सैकड़ों तक पहुँची है, जिसका अर्थ यह है कि उनसे बचने की

कला-पक्ष

चेष्टा करने से रसानुभव उत्कृष्ट मात्रा में हो सकता है। अलंकारों के द्वारा रस की अनुभूति और भी स्थायी हो सकती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से रस सर्वप्रथम अभिनय के संबंध में ही माना गया था और भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में पहले पहल इसका निरूपण हुआ था। अतः रूपकों का अभिनय करनेवालों और उसके दर्शकों को लेकर ही आरंभ में यह चरितार्थ हुआ। पीछे से यह काव्य आदि अन्य कलाओं में भी प्रवेश कर गया और इन दिनों तो यह संपूर्ण भारतीय कला-विवेचन का मूल सूत्र बन गया है। रस-निष्पत्तिवाले भरत के वाक्य को लेकर कितने ही अर्थ किये गये और कई साहित्यिक संप्रदाय खड़े हुए; परंतु कला-विवेचन के विचार से इसका इतना ही अर्थ हो सकता है कि नाटक का अभिनय करनेवाले पात्रों, उनकी वेष-भूषा, परिस्थिति, हाव-भाव आदि का दृश्य देखकर मूल रूपक के विषय में सामाजिकों के हृदय में जो आनंद की अनुभूति होती है वही रस है। अभिनय करनेवाले पात्रों का तो वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है। जैसे किसी काव्य-ग्रंथ की छपी हुई या हस्तलिखित प्रति हो वैसे नाटकों के ये अभिनेता हैं। जैसे कविता-पुस्तक में विराम आदि चिह्नों की सहायता से अर्थ ग्रहण करने और काव्य का रस लेने में अधिक सुगमता होती है, वैसे ही रूपकों का अभिनय करनेवालों के सहारे हम उस रूपक का अधिक सहज भाव से आनंद ले सकते हैं। अतः नाटक के रस का संबंध अभिनेता रूपी

मध्यस्थ से उतना ही है जितना काव्य के रस का संबंध उसकी छपी हुई प्रति से है।

कविता के भाव और कला-पक्षों पर इतना विचार करने के उपरांत अब हम दोनों का पारस्परिक संबंध भी देख सकते हैं। भाव तो प्रत्येक कविता के मूल में हैं ही, भाव ही रसरूप में परिणत होते हैं; किंतु काव्य को अलंकारों से सुशोभित करना, उसे गुणवान् बनाना, दोषों को उससे दूर रखना, सारांश यह कि भावाभिव्यक्ति के मार्ग की बाधाओं को दूर कर काव्य को रसमय बना देना—यह साहित्य के कला-पक्ष का काम है। स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ जिस अर्थ में 'कला-पक्ष' शब्द का प्रयोग हो रहा है वह कला के उस अर्थ से सर्वथा भिन्न है जिस अर्थ में उसका प्रयोग इस पुस्तक में किया गया है। कला तो काव्य मात्र है। काव्य ही क्यों, संगीत चित्र आदि सभी कलाएँ हैं। उन काव्यादि कलाओं के दो पक्ष प्रधानतः माने जाते हैं—भाव और कला पक्ष। यहाँ कला-पक्ष केवल अलंकार, साज-सज्जा आदि काव्य-गुणों के लिए प्रयुक्त हुआ है, व्यापक रूप से कला के लिए नहीं।

साहित्य-शास्त्र और छंद

ध्यान देने की बात है कि अधिकांश साहित्य-शास्त्रों में छंदों का प्रकरण नहीं रखा गया है। शब्दालंकारों में अंत्यानुप्रास एक क्षुद्र अलंकार मात्र है। काव्य के गुणों के साथ छंदों का भी उल्लेख किया जा सकता था परंतु उन्होंने वैसा नहीं किया। न करने के

कारण दो ही हो सकते हैं। एक तो यह कि छंदों की संख्या इतनी अधिक है कि उसका निरूपण साहित्य-शास्त्र के अन्य सब निरूपणों से भी अधिक स्थान अधिकृत कर लेता। दूसरी बात यह हो सकती है कि छंद को काव्य-साहित्य का आवश्यक अंग नहीं माना गया। रीति, गुण और शब्दालंकारों द्वारा राग (संगीत) की जितनी साधना काव्य में हो गई उससे अधिक की आवश्यकता समझी ही नहीं गई। कविता की साधना मुख्यतः शब्द की साधना है। उसमें स्वर-साधना-संबंधी छंद-शास्त्र का लंबा प्रकरण जोड़ने से न केवल काव्य-कला की मुख्य विशेषता तिरोहित हो जाती वरन् बहुत से अन्य विक्षेप भी पड़ सकते थे। रस काव्य से निष्पन्न होता है, वही संगीत से भी निष्पन्न होता है। काव्य में संगीत सहायक का ही काम कर सकता है; यदि वही प्रधान बन जाय तो कविता का व्यक्तित्व ही कहाँ रह जाय ? तब तो कविता संगीत का एक 'गुण' बनकर ही अपना अस्तित्व खो बैठे।

कविता का इतना विवेचन हो चुकने पर अब यह आवश्यक होता है कि हम उसका एक स्वरूप निश्चित कर लें। कविता का

कविता का स्वरूप

स्वरूप स्थिर करने में काव्य-मर्मज्ञों और आलोचकों ने सैकड़ों परिभाषाएँ गढ़ डाली हैं।

संस्कृत आलोचकों में तीन आलोचकों के तीन ग्रंथ सर्वमान्य से ही रहे हैं। मम्मट का काव्यप्रकाश, विश्वनाथ

का साहित्यदर्पण और जगन्नाथ का रसगंगाधर। हम तीनों की दी हुई परिभाषाएँ सामने रखेंगे और तीनों में से अपना एक निर्णय पुष्ट करेंगे।

(१) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती क्वापि।—काव्यप्रकाश

ऐसे शब्द और अर्थ को कविता कहते हैं जिसमें दोष न हों, गुण हों, अलंकार हों और कभी कभी अलंकार न भी रहें।

(२) वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।—साहित्यदर्पण।

रसभरी (कलात्मक आनंदानुभूति से पूर्ण) भाषा को कविता कहते हैं।

(३) रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दः काव्यम्।—रसगंगाधर।

रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करनेवाले शब्द को काव्य कहते हैं।

तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो तीनों परिभाषाओं में कोई विरोध नहीं है। तीनों ग्रंथों के पढ़ने से भी यही निर्णय पुष्ट होता है। पर तीनों में अपनी अपनी विशेषताएँ हैं। साहित्य-दर्पण की परिभाषा है कि रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं पर साधारण विद्यार्थी पहले 'रस' के पूरे सिद्धांत को समझ लेगा तब कहीं वह इस परिभाषा का अर्थ लगा सकेगा। वह प्रारंभ में ही सुनता है कि रसभरी रचना को काव्य कहते हैं। वह चट रस का सामान्य अर्थ लगा लेता है और इसी से भ्रम होने लगता है। सिद्धांततः यह परिभाषा कितनी ही सुंदर हो पर व्यवहार की दृष्टि से यह बड़ा अनर्थ करती है। प्रारंभ में तो

साधारण शब्दों में कविता के सीधे स्वरूप का वर्णन होना चाहिए और उचित ज्ञान हो चुकने पर रस और ध्वनि की बात आनी चाहिए। इसी से व्यवहारविद् आचार्य मम्मट ने पहले कविता के दोष, गुण, अलंकार आदि की चर्चा की है पर रस का नाम तक नहीं लिया है। वे भी रस को प्रधान मानते हैं पर वे उसका उचित स्थान भी जानते हैं।

इसी प्रकार रसगंगाधर की परिभाषा भी बड़ी सुंदर है—रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं। पर यह तो पूरे साहित्य-शास्त्र का निचोड़ है। प्रारंभ में कहने और समझने की व्याख्या नहीं है। 'रमणीय' आदि की व्याख्या कितनी टेढ़ी है, विद्वान् ही जानते हैं। अतः हम मम्मट के स्वरूप-वर्णन को ही आधार मानकर अपना काम चलावेंगे। मम्मट के समान व्यवस्थित और व्यवहारोपयोगी व्याख्या करनेवाला दूसरा नहीं हुआ।

मम्मट ने सबसे पहले यह दिखाया है कि शब्द और अर्थ दोनों ही मिलकर 'काव्य' अथवा कविता कहे जाते हैं। इसी से एक ओर उन्होंने 'ध्वनि' को काव्य माना है और दूसरी ओर चित्र-काव्य को भी कविता का पद दिया है। यही उनके विवेचन की व्यापकता है। व्यवहार में, प्रत्यक्ष लोक में, चित्रकाव्य का भी बड़ा मान होता है।

शब्द और अर्थ अभिन्न रूप से कविता के आधार होते हैं, इसी से कविता के स्वरूप-ज्ञान के लिए वाचक, लक्षक और

व्यंजक—तीनों प्रकार के शब्द, वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य—तीनों प्रकार के अर्थ और अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—तीनों प्रकार की शब्द-शक्तियों का ज्ञान परमावश्यक होता है।

शब्दार्थ के इसी विवेचन के आधार पर ही रस, ध्वनि, सौंदर्य, कलात्मक अनुभूति, साधारणीकरण आदि सभी की व्याख्या होती है। आगे चलकर इन्हीं शब्दों और अर्थों के चमत्कार, सौंदर्य और रमणीयत्व को बढ़ाने-घटानेवाली बातों का—अर्थात् गुण, दोष, रीति, वृत्ति और अलंकार का—विवेचन होना चाहिए। इन सब का विवेचन न केवल आलोचक की सहायता करता है प्रत्युत इनके ज्ञान से कविता का रस भी उचित मात्रा में मिलता है।

सिद्धांत-रूप में छंदों की अनिवार्यता का खंडन करते हुए भी हम यह स्वीकार करते हैं कि संसार का काव्य-साहित्य एक

कविता और छंद

बड़ी मात्रा में छंदोबद्ध है और वे छंद संगीत-शास्त्र के अनुसार हैं। पश्चिम में अब तक कविता और छंद का अन्योन्य संबंध माना जाता है। पश्चिमीय समीक्षकों ने पद्य (संगीत) को अभिन्न रूप से कविता का अंग माना है, यह उनकी व्याख्याओं से प्रकट होता है। जानसन का मत है—कविता पद्यमय निबंध है। कारलाइल का कहना है—कविता संगीतमय विचार है। कारलाय कहता है—कविता मनोवेगमय और संगीतमय भाषा में मानव-अंतःकरण की मूर्त और कलात्मक व्यंजना करती है। ये सब लक्षण प्रकट

करते हैं कि कविता और पद्य में संगीत का विशेष घनिष्ठ संबंध माना गया है। किंतु इस कारण पद्य मात्र को कविता नाम देने में कितनी बुद्धिमानी है यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं।

मानव-जीवन में संगीत की महत्ता सबको स्वीकार होगी। मंद मंद वायु के संचार, पक्षियों के कलरव, झरनों की कलकल ध्वनि, पत्तों के मर्मर स्वर, नदियों के प्रवाह, यहाँ तक कि समुद्र-गर्जन में भी संगीत है जिससे मनुष्य की आत्मा को संतोष और आनंद प्राप्त होता है। संगीतज्ञों का मत है कि उसे कविता से अलग करना, मानों उसके रूप, उसके प्रभाव और उसके महत्त्व को बहुत कुछ कम कर देना है। जो लोग संगीत के प्रेमी हैं, जिन्होंने उसके अमृत-रस का आस्वादन किया है, जो उसकी मिठास का अनुभव कर चुके हैं वे मुक्त कंठ से कहते हैं कि संगीतमय भाषा (कविता) का गंभीर और आह्लादकारी प्रभाव उसका महत्त्व बढ़ाता, उसे मधुर और मनोहारी बनाता तथा मानव-हृदय में अलौकिक आनंद का उद्रेक करता है। अतः कविता का संगीतमय रूप नष्ट करना मानों उसकी अलौकिक शक्ति का नाश करना है।

परंतु संगीत के इस प्रभाव के विरुद्ध यह समस्या उपस्थित होती है कि छंद का बंधन स्वीकार करने से—विशेषतः छंदों की रूढ़ि-जटित परंपरा के काव्य पर आधिपत्य करने देने से—कविता की भाव-व्यंजना में अनेक बार बाधाएँ उपस्थित होती हैं। कभी कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जब शब्द,

कविता और स्वर (संगीत) में विरोध उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अवस्था में संगीत (छंद) के नियमों को शिथिल कर देना उचित होगा, क्योंकि कविता कला शब्द को जितना महत्त्व दे सकती है, स्वर को उतना नहीं। कविता का प्राथमिक आधार शब्द है।

ऐतिहासिकों का मत है कि सृष्टि के प्रारंभ से अधिकांश गंभीर और मर्मव्यापी भावों को मनुष्य ने संगीतमय भाषा में ही व्यक्त किया है। अतएव कविता और वृत्त या संगीत का संबंध बहुत पुराना और स्थायी है। इस संबंध के कारण हमारे मनोवेग अधिक तीव्र भाव से उत्तेजित हो उठते हैं, हमारे भावों में अद्भुत परिवर्तन हो जाता है और हमारी कल्पना कवि की कल्पना का अनुसरण करती हुई, जहाँ जहाँ वह ले जाती है, चली जाती है और अपनी सत्ता भूलकर उसकी सत्ता में लीन हो जाती है।

इसके विपरीत नवीनतावादियों का कथन है कि संसार की आदिम भाषा संगीतमय अवश्य होगी परंतु मनुष्य ने जब विकास किया तब उसने छंदहीन भाषा बनाई और अब छंद की भाषा को वह अविकसित मानता है। वर्तमान काल में अधिकांश काव्य-साहित्य गद्य में प्रकाशित हो रहा है और यह आशा करना अनुचित न होगा कि भविष्य में गद्य का ही अधिकाधिक प्रयोग किया जायगा। छंदहीन कविता नवीन युग में उत्पन्न हुई है। अब उसकी निरंतर प्रगति होगी

और अंत में हमारा संपूर्ण काव्य गद्य की भाषा द्वारा ही प्रकाशित होने लगे तो कोई आश्चर्य नहीं।

काव्य की भूमि मानव-कल्पना की भूमि है। कवियों ने असंख्य रूपों में अपनी कल्पना का प्रकाश किया है और अगणित प्रकार से जीव-जगत् की वस्तुओं के संबंध में अपने भाव प्रकट किये हैं।

कवि-कल्पना

जो तत्त्व उपदेशकों और धर्माचार्यों की शब्दावली में निहित होकर संसार की विरक्ति के हेतु बन गये हैं उन्हें कवियों की वाणी में पाकर जन-समाज आनंद से पी गया है। विज्ञान में जो बुद्धि है, दर्शन में जो दृष्टि है, वही कविता में कल्पना है। कल्पना के साथ कवि की कला है। इतिहास के लेखक के सामने अपनी विषय-वस्तु की एक निश्चित सामग्री है, जिसे अधिक से अधिक सजाकर वह आकर्षक कृति उपस्थित कर सकता है; परंतु वह अबाध कविता नहीं कर सकता। कवियों ने अपनी कल्पना के बल से कितने ऐसे महान् पात्रों की सृष्टि की है जो संसार के हृदय पर शासन करते हैं और चिर काल तक करेंगे। उन्होंने कितनी ही कामिनियों का शृंगार सजाया है जिन्हें देखकर मनुष्य एकांत भाव से मुग्ध हुआ है। कलाकार की कल्पना संसार की प्रायः समस्त उज्ज्वल, उदात्त और ऊर्जस्विनी भावनाओं को पुष्ट करनेवाली, उन्हें मनोरम बनाकर मनुष्य-जीवन में मिला देनेवाली सिद्ध हुई है। कवि अपनी कल्पना के इंगित से सहस्रों वर्षों तक, अमित काल पर्यंत, संसार-व्यापी समाज के

मन पर शासन करता है। मानव-हृदय के सिंहासन पर अधिष्ठित हो वह अपनी प्रभुता का विस्तार करता है और लोक की श्रद्धांजलि उसके चरणों का नित्यप्रति अभिषेक करती है।

कवि-कल्पना की इतनी प्रभुता है तो उसका उत्तरदायित्व भी कम नहीं है। कल्पना सत्य होनी चाहिए और यह सत्य की साधना बड़ी ही दुस्साध्य है। प्रकृति की विस्तृत, दुर्गम निधि से सत्य-कल्पना के रत्न चुन लेना और चुनकर कविता में इस भाँति सजा देना कि वह लोक-हृदय का हार बन जाय, साधारण कवियों का काम नहीं है। कवि-कल्पना में सत्यता होनी चाहिए किंतु सत्यता का जो अर्थ साधारणतः किया जाता है उसे कविता में ढूँढ़ना ठीक न होगा। वह तो केवल विज्ञान में मिल सकता है। कविता में सत्यता से अभिप्राय उस निष्कपटता से है और उस अंतर्दृष्टि से है जो हम अपने भावों या मनोवेगों का व्यंजन करने में, उनका हम पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे प्रत्यक्ष करने में तथा उसके कारण हमें जो सुख दुःख, आशा निराशा, भय आशंका, आश्चर्य चमत्कार, श्रद्धा भक्ति आदि के भाव उत्पन्न होते हैं, उनको अभिव्यक्त करने में प्रदर्शित करते हैं। अतएव कविता में सत्यता की कसौटी यह नहीं हो सकती कि हम वस्तुओं का वास्तविक रूप खोलकर दिखावें, किंतु इस बात में होती है कि उन् वस्तुओं की सुंदरता, उनका रहस्य, उनकी मनोमुग्धकारिता आदि का हम पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे कविता की दृष्टि से स्पष्ट प्रकट करके दिखावें।

यही कविता द्वारा जीवन की—मानव-जीवन और प्राकृतिक जीवन की—कल्पना और मनोवेगों के रूप में व्याख्या है। परंतु यह बात न भूलनी चाहिए कि कवि का संबंध वस्तुओं की सुंदरता, उनके भीतरी रहस्य और उनकी मनोमुग्धकारिता से है। इस कारण कवि जो चाहे, लिखने के लिए स्वतंत्र है। उसके लिए प्राकृतिक घटनाओं का, वस्तुओं की वास्तविक स्थिति आदि का कोई प्रतिबंध नहीं है। यह सच है कि कवि हमें वस्तुओं के गूढ़ भाव का परिचय, हमारे और उनके परस्पर संबंध को कल्पना और मनोवेगों से रंजित करके, कराता है परंतु हम यह बात नहीं सह सकते कि वह हमें अंधेरे में ढकेल दे और वस्तुओं के विकृत रूप से हमें परिचित करावे। उसका सांसारिक ज्ञान और प्राकृतिक अनुभव स्पष्ट, सच्चा और स्थायी होना चाहिए, और जिन घटनाओं या बातों को वह उपस्थित करे, उनके संबंध में उसके सिद्धांत निष्कपटता तथा सचाई की नींव पर स्थित हों। जहाँ इसका अभाव हुआ, वहाँ कविता की महत्ता बहुत कम हो गई।

कविता और विज्ञान

वैज्ञानिक मतों का उपयोग भी कवि अपने ढंग पर करता है। किसी वनस्थली को देखकर मन में अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। संसार परिवर्तनशील है। इस कारण वनस्थली में जहाँ पहले वृक्ष थे, वहाँ अब खुला मैदान हो गया है, जहाँ मैदान थे वहाँ पेड़ लग गये हैं, जहाँ पहले छोटी छोटी नदियाँ बहती थीं वहाँ

अब सूखे नाले हैं, जहाँ सुंदर हरे-भरे मैदान थे वहाँ नदियाँ बहने लगी हैं। इन बातों में थोड़े ही समय में परिवर्तन हो जाता है, पर पहाड़ों के नष्ट हो जाने या नये पहाड़ों के बनने में बहुत अधिक समय लगता है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि कवि के विचारों तथा भावों के लिए चारों ओर सामग्री प्रस्तुत है, और यद्यपि उसका उपयोग या अनुभव करने में कवि की ज्ञानेंद्रियाँ ही उसकी सहायक हैं, तथापि वे वहाँ जायँगी जहाँ अनुकूल सामग्री उपस्थित होगी और जहाँ कवि को अपनी कल्पना उत्तेजित करने तथा उस कल्पना को खेलने-कूदने का पूरा अवकाश मिल सकेगा। इससे यह सिद्धांत निकलता है कि जितना बड़ा कवि होगा, वह उतना ही गंभीर विचार करने-वाला तत्त्वज्ञ या दार्शनिक होगा। अतएव संसार में जितने नये विचार उत्पन्न होंगे या जितनी नई वैज्ञानिक खोज होगी वे सब उसके लिए आवश्यक और मनोमुग्धकारी होंगी, सबका प्रभाव उस पर पड़ेगा। मनुष्यों की आशाओं, मनोरथों, उद्देश्यों आदि पर इन विचारों या खोजों का भला-बुरा जो कुछ प्रभाव पड़ेगा, सब पर उसका ध्यान जायगा, और चाहे अपनी कविता में वह उनका प्रत्यक्ष उल्लेख न करे, पर फिर भी उसकी कविता किसी न किसी और सूक्ष्म से सूक्ष्म रीति पर उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सकेगी, अतएव यह कहना कि विज्ञान की बातों से कवि का संबंध नहीं है, उचित नहीं है। वह उसके व्यापक प्रभाव से बच नहीं सकता। आजकल जब कि नित्य नये

आविष्कार और अनुसंधान हो रहे हैं जो हमारे सामूहिक जीवन को प्रत्यक्ष प्रभावित करते हैं कविता और विज्ञान में संबंध न मानना कविता को जीवन से दूर फेंक देने के समान होगा। विचारों के विकास में कभी कभी मनोवेग बुद्धि के साथ साथ नहीं बने रहते, वे पीछे रह जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कवि साधारणतः पुराने विचारों का कट्टर पक्षपाती बना रहता है। पर कल्पना के द्वारा कवि वैज्ञानिकों से कोसों आगे चला करते हैं और आनेवाले युग की बातें करते हैं। वैज्ञानिक वर्तमान युग बनाते हैं और कवि उनके भूत और भविष्य की आलोचना करते हैं। किंतु ऐसा वे तभी कर सकते हैं जब सजग होकर जीवन की सभी दिशाओं का निरीक्षण करें। ऐसा करते हुए विज्ञान और उसके प्रभावों पर भी कवि की दृष्टि अवश्य जायगी, वह उसकी अवहेलना किसी प्रकार नहीं कर सकेगा। इससे विज्ञान और कविता का संबंध स्पष्ट हो जाता है।

कविता और प्रकृति

कुछ कवि ऐसे भी होते हैं जो कविता में प्रकृति के नाना रूपों का प्रयोग केवल उपमा या उदाहरण के रूप में करते हैं। उनकी उपमाएँ प्रायः प्रकृति ही से ली जाती हैं। जैसे पद्माकर का कहना 'बिज्जु-छटा सी अटा पै चढ़ी मुक्ता छबि घालि कटा करती है।' इस प्रकार की कविता बहुत मिलती है। पद पद पर इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। इस संबंध में विचारने की बात केवल इतनी

ही है कि कवि ने ऐसे प्राकृतिक उदाहरणों का अनुचित उपयोग तो नहीं किया है।

कविता में प्रकृति का उपयोग एक प्रकार उसे मनुष्यों के मनोवेगों या कार्यों की क्रीड़ास्थली की भाँति काम में लाना है। जिस प्रकार किसी ऐतिहासिक घटना या चित्र को अंकित करने में चित्रकार पहले घटनास्थल का एक स्थूल चित्र अंकित करके तब उसमें मुख्य घटना को चित्रित करता है, उसी प्रकार कवि मनुष्य के क्रिया-कलापों का वर्णन करने के पूर्व उसके क्रियाक्षेत्र के प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करता है। इसके लिए कभी कवि किसी स्थान का और कभी किसी समय का वर्णन करता है, और इसके अनंतर वह अपने मुख्य विषय पर आकर अपनी कविता के उद्देश्य की ओर अग्रसर होता है। विशेषतः कथानक के लिखने में प्रकृति का इस प्रकार प्रयोग किया जाता है। इस संबंध में ध्यान रखने की बात यही है कि प्राकृतिक वर्णन में मस्त होकर कवि कहीं अपने मुख्य विषय को न भूल जाय और उस दृश्य के वर्णन को आवश्यकता से अधिक विस्तृत न कर दे या उसे कोई तुच्छ स्थान न दे दे।

इसके अतिरिक्त कवि का प्राकृतिक वर्णन बहुत कुछ मनोवृत्तियों, भावनाओं या विचारों पर निर्भर रहता है। कहीं तो वह उसमें ईश्वर के अनिवार्य नियमों का अनुभव करता है, कहीं वह उसमें क्रूरता, असहिष्णुता, कठोरता आदि के प्रत्यक्ष दर्शन करता है और कहीं उसमें सहानुभूति, सहकारिता और आध्यात्मिकता

के तत्त्वों का साक्षात् रूप देखता है। प्रकृति की ये भिन्न भिन्न भावनाएँ और रूप कवि के स्वभाव के आश्रित रहते हैं। सारांश यह कि वह प्रकृति में अपने स्वभाव का प्रतिबिंब ढूँढ़ता है और उसे उसी रूप में देखकर अपने मनोनुकूल उसका वर्णन करता है।

कविता की व्यंजक शक्ति

कविता में एक ऐसी शक्ति है जिससे वह इंद्रियगोचर सौंदर्य, मानवी जगत् के अनुभव तथा प्रकृति के नाना रूपों के आध्यात्मिक भाव को हमारे सामने उपस्थित करती है। कविता के अभाव में हम इस अनुभूति से वंचित रह जाते हैं। हम सांसारिक व्यापारों में इतने व्यग्र रहते हैं कि कविता की इस शक्ति के संपादन में असमर्थ होते हैं। सच्चा कवि वही है जिसमें वस्तुओं के इंद्रियगोचर सौंदर्य और उनके आध्यात्मिक भाव को समझने और अनुभव करने की पूर्ण शक्ति हो; और जो कुछ वह देखता या अनुभव करता हो, उसे इस प्रकार से व्यक्त करे जिससे हमारी कल्पनाएँ और भावनाएँ भी उत्तेजित होकर हमें उसी की भाँति देखने, समझने और अनुभव करने में समर्थ कर दें। अतएव कवि हमें कुछ काल के लिए सांसारिक व्यापारों की व्यग्रता से निवृत्त करके हमारा ध्यान जगत् की सुंदरता और मनोहरता की ओर आकृष्ट करता है और हमारे सामने एक ऐसी निधि रख देता है जिसे हम नित्य प्रति की झंझटों तथा सांसारिक स्वार्थ-साधन के व्यवसायों में मग्न रहने के कारण आँखों के रहते भी देखने में,

कानों के रहते भी सुनने में, और हृदय के रहते भी अनुभव करने में असमर्थ होते हैं। कवि ईश्वरीय सृष्टि का रहस्य समझने में समर्थ होता है। किसी सुंदर और रमणीय स्थान को हम देखते हैं और आगे बढ़ जाते हैं। एक बेर नहीं अनेक बेर ऐसा होता है। पर चित्रकार की आँखें उसकी सुंदरता को चट ग्रहण कर लेती हैं और वह उसे चित्रित कर देता है। उस चित्र को देखकर हमारा ध्यान भी उस दृश्य की ओर आकृष्ट होता है और हम उसकी सुंदरता का अनुभव करने में समर्थ होते हैं। इसी प्रकार कवि भी संसार की वस्तुओं की मनोहरता और सुंदरता को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखता और उनका आध्यात्मिक भाव समझकर हमें उनका ज्ञान अपनी मनोहारिणी और ललित भाषा में कराता है। तब हम भी उसकी सुंदरता और मनोहरता समझने लगते हैं और उसके आध्यात्मिक भाव की ओर आकृष्ट होते हैं। इस प्रकार कवि हमें केवल वस्तुओं की सुंदरता का ही भाव प्रदान नहीं करता, बल्कि हमें इस योग्य बना देता है कि हम कवि की दिव्य दृष्टि के सहारे जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं को देख और समझ सकें तथा कवि की अलौकिक शक्ति का स्वयं अनुभव कर सकें।

इस प्रकार कविता हमारे जीवन का भिन्न भिन्न अवस्थाओं से संबंध स्थापित करती है और अपनी क्रीड़ा के लिए ऐसे विषयों को चुन लेती है, जो सुगमता से उसे अपना कर्तव्य पालन करने में सहायता देते हैं। इस विचार से प्रत्येक प्रकार की

कविता, यहाँ तक कि तुच्छ से तुच्छ विषयों पर की गई कविता, जिसे कवि अपनी शक्ति से मनोहारिणी बना देता है अपने नाम को चरितार्थ करती और अपना महत्त्व प्रदर्शित करती है। परंतु यदि कविता कल्पनाओं और मनोवेगों के रूप में जीवन की व्याख्या है, तो उसका महत्त्व उस शक्ति का महत्त्व है जो वह जीवन के महत्त्वपूर्ण और स्थायी विषयों के वर्णन में—ऐसी वस्तुओं के वर्णन में जिनका संबंध हमारे विशेष अनुभव और अनुराग-विराग से होता है—प्रदर्शित करती है। कविता भी एक कला है; अतएव उसकी परीक्षा भी उस कला के नैपुण्य और उपकार से ही होनी चाहिए। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि काव्य-कला आत्मा की बाह्य मूर्ति है। वह विचारों और भावों की वाहक है और जितना ही वह आत्मा के विचारों और भावों को प्रकट करती है, उतना ही उसका महत्त्व बढ़ता है। इसका यह आशय नहीं कि कविता का उद्देश्य केवल आनंद का उद्रेक करना है। यह तो सभी कलाओं का उद्देश्य है। और कविता इसका अपवाद नहीं। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि उस आनंद की मात्रा विषय की उपयुक्तता और उसके प्रतिपादन की रीति पर आश्रित रहती है। कविता जीवन से, जीवन की और जीवन के लिए है। जीवन का भाव समझने और उसकी व्याख्या करने में जिस शक्ति का परिचय कवि दे सके हैं, उसी के अनुसार उनका महत्त्व स्थापित हुआ है।

कवियों के महत्त्व का आदर्श

उपदेश देने का उद्देश्य अपने सम्मुख रखकर कविता करने बैठे। यह कार्य तो किसी उपदेशक या धार्मिक नेता का है। कवि का काम शिक्षा देना और पथ-प्रदर्शक होना नहीं है। उसका काम तो उत्तेजित करना, सजीव करना, उच्छ्वसित करना, शक्ति-संपन्न करना और प्रसन्न करना है। कविता के संबंध में इन बातों को कदापि न भूलना चाहिए। तात्त्विक सिद्धांतों की नींव पर कविता का प्रासाद खड़ा करना त्याज्य नहीं है। ध्यान केवल इस बात का रहना चाहिए कि ऐसा करने में कविता कहीं अपने गुणों से विहीन न हो जाय, अपनी सुंदरता, अपनी मनोहरता न खो बैठे। भले ही उपदेश दिया जाय, सदाचार की बातें कही जायँ, नीति का भाव हृदय-पटल पर जमाया जाय, पर कविता की सुंदरता और मनोहारिता का नाश करके यह सब न किया जाय, नहीं तो कविता कविता न रह जायगी, सूखे उपदेश मात्र रह जायँगे। दार्शनिक भले ही अपने दर्शन-शास्त्र की बातें कहें, पर कल्पना और मनोवेगों के रूप में कहें, सुंदरता-पूर्वक कहें, मनोहारिणी उक्तियों द्वारा कहें, सारांश यह कि कविता के सरस रूप में कहें।

अतएव यह सिद्धांत निकलता है कि कवि का महत्त्व उसके विषय की महत्ता का, उसके विचारों की गहनता का, उसकी नैतिक शक्ति का और उसकी प्रभावोत्पादकता का आश्रित है। कविता का विचार करने के लिए हमें कवि पर, उसके व्यक्तित्व पर, उसके सांसारिक अवेक्षण पर, उसकी जीवन की व्याख्या

पर, उसकी विशेषता पर भी विचार करना चाहिए। किंतु उसकी कविता के सौंदर्य और उसकी काव्य-कला की कुशलता पर हमारी दृष्टि प्रधानतः रहनी चाहिए।

कविता को हम दो मुख्य विभागों में विभक्त कर सकते हैं—एक तो वह जिसमें कवि अपनी अंतरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों तथा भावनाओं से प्रेरित होता तथा अपने प्रतिपाद्य विषय को ढूँढ़ निकालता है, और दूसरा वह जिसमें वह अपनी अंतरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों और रागों में पैठता है और जो कुछ ढूँढ़ निकालता है उसका वर्णन करता है। पहले विभाग को भावात्मक, व्यक्तित्वप्रधान अथवा आत्माभिव्यंजक कविता कह सकते हैं। दूसरे विभाग को हम विषय-प्रधान अथवा भौतिक कविता कह सकते हैं। यद्यपि इन दोनों विभागों की ठीक-ठीक सीमा निर्धारित करना कठिन है, फिर भी विवेचन करने के लिए किसी प्रकार का विभाग करना आवश्यक है, और इससे अच्छा विभाग होना कठिन है।

कविता के विभाग

भावात्मक कविता में विशेषता यह होती है कि कवि अपने भावों के अभिव्यंजन में लगा रहता है। प्रायः देखने में आया है कि कवियों ने अपने भावों के अभिव्यंजन से तात्पर्य मानव-जाति के अभिव्यंजन से लिया है। इस विचार से ऐसी कविता पढ़नेवाले के मन में यह भावना उत्पन्न होती है कि कवि जिन भावनाओं और अनुभवों का वर्णन कर रहा है, वे उस कवि

के ही नहीं हैं, किंतु उसके उद्गार पढ़नेवाले के भी हैं। ऐसी भावात्मक कविता में मानवी प्रवृत्तियों की प्रचुरता रहती है। हमें इस संबंध में केवल यह विचार करना चाहिए कि जिन भावों से प्रेरित होकर कवि ने रचना की है, वे भाव कैसे हैं और उनको उसने किस प्रकार व्यंजित किया है। यदि कविता हमारे मन में यह भाव उत्पन्न कर सके कि उच्च भावनाओं का व्यंजन स्पष्टता और स्वाभाविकता-पूर्वक किया गया है तथा उसकी भाषा और कल्पना में सुंदरता और विशदता है, तो हम कहेंगे कि वह फली-भूत हुई। ऐसी कविता साधारण भाव-व्यंजना के आगे बढ़कर क्रमशः ऐसे चिंतन का रूप धारण करती है, जिसमें विचारों की बहुलता रहती है। ऐसी कविता में भावना की उच्चता, भाषा की मनोमुग्धकारिता, कल्पना की सुंदरता, स्पष्टता तथा विशदता के साथ ही साथ हमें इस बात का भी विचार करना पड़ता है कि वे विचार कैसे हैं और कवि उन्हें कवितामय बनाने में कहाँ तक समर्थ हुआ है। शृंगार, गीति, स्तुति, निंदा आदि की फुटकर कविताएँ इसी के अंतर्गत हैं।

बाह्य विषयात्मक अथवा वर्णनप्रधान कविता की विशेषता यह है कि उसका कवि के विचारों और मनोभावों से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं जान पड़ता। उसके विषय सांसारिक भाव और कार्य होते हैं। भावात्मक कविता में, जैसा पहले कहा जा चुका है, कवि अपनी अंतरात्मा में प्रवेश करता है और बाहरी जगत् को अपने अंतःकरण में ले जाकर अपने भावों से रंजित

करता है। पर बाह्य विषयात्मक कविता में वह आप बाहरी जगत् में जा मिलता है और वहीं से प्रेरित होकर अपनी कविता का विषय ढूँढ़ता है, फिर वह उसे अपनी कला का उपादान बनाता है और अपनी अंतरात्मा को जहाँ तक हो सकता है प्रच्छन्न रखता है। वह अपनी कविता-सृष्टि में अपने आप को उसी प्रकार छिपाये रखता है, जिस प्रकार जगन्नियंता जगदीश्वर अपने आपको इस जगत् में अदृश्य रखता है। उसका अनुभव प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष रूप में होता है। बाह्य विषयात्मक कविता में कवि अंतर्हित रहता है, पर भावात्मक कविता में वह प्रत्यक्ष हो जाता है।

विषयप्रधान अथवा बाह्य विषयात्मक कविता के यद्यपि अनेक भेद-उपभेद किये जा सकते हैं पर उनमें खंडकाव्य और महाकाव्य प्रधान माने गये हैं। उपन्यास, रूपक आदि की रचना भी अधिकांश में बाह्य विषयों को लेकर ही की जाती है। खंडकाव्य में किसी प्रसिद्ध वा अप्रसिद्ध कथानक-खंड को मुख्य कथा बनाकर वर्णन कर सकते हैं। खंडकाव्य का आधार काल्पनिक घटना भी हो सकती है और उसका उद्देश्य भी साधारण हो सकता है, परंतु महाकाव्य में एक महत् उद्देश्य का होना आवश्यक है। संस्कृत के साहित्यशास्त्रों में महाकाव्य के आकार-प्रकार और वर्णन-विषय के संबंध में बड़ी जटिल और दुरूह व्याख्याएँ की गई हैं, जिनका आधार लेकर लिखने से बहुत से महाकाव्यों के शरीर अब संघटित हो गये हैं पर

उनमें से बहुत थोड़े ऐसे हैं जो आत्मा के किसी उदात्त आशय, सभ्यता या संस्कृति के किसी युग-प्रवर्तक संघर्ष अथवा समाज की किसी उद्वेगजनक स्थिति को लेकर किसी प्रकांड विचारक और कवि द्वारा लिखे गये हों, जिन्हें जातीय इतिहास में अनिवार्य स्थान सुलभ हो सके। रामायण, महाभारत, रामचरितमानस आदि की कोटि के सच्चे महाकाव्य शताब्दियों में दो-एक लिखे जाते हैं।

आत्माभिव्यंजन-संबंधी कविता गीत काव्य में ही अधिक लिखी गई है। छोटे छोटे गेय पदों में मधुर भावापन्न, आत्म-निवेदन स्वाभाविक भी जान पड़ता है। ऐसे पदों में शब्द की साधना के साथ स्वर (संगीत) की साधना भी उत्कृष्ट हो सकती है। इनसे कर्कशता बहिष्कृत कर दी जाती है, इनकी भावना प्रायः कोमल होती है और एक एक पद में पूर्ण होकर समाप्त हो जाती है। हिंदी में इस प्रकार के गीत भक्तों ने अगणित लिखे हैं। आल्हखंड, बीसलदेवरासो आदि, जो वीरगीत के नाम से प्रचलित हैं, आत्माभिव्यंजन की श्रेणी में नहीं आते, वे तो वस्तु-वर्णन-विषयक कविता के उदाहरण हैं।

——

पाँचवाँ अध्याय

गद्य-काव्य

[क—दृश्य काव्य]

पिछले अध्याय में काव्य के पद्यमय रूप का वर्णन हो चुका, अब उसके गद्यमय रूप पर विचार किया जाता है। गद्य-काव्य के दो उपविभाग किये जाते हैं—एक दृश्य काव्य और दूसरा श्रव्य काव्य। श्रव्य काव्य के विशेष अंग उपन्यास, आख्यायिका, निबंध, मुक्तक-काव्य, भावात्मक काव्य और आलोचना हैं।

पिछले अध्याय में काव्य का सामान्य रेखाचित्र उपस्थित करते हुए हम उल्लेख कर चुके हैं कि कवि अपनी इच्छा और

रूपक

सुविधा के अनुसार कई प्रकार से उसका संघटन कर सकता है। वह चाहे तो अपनी ही कल्पनाओं और भावनाओं के गेय पद बनाकर गीतिकाव्य की रचना कर डाले अथवा अपने देश और जाति के किसी महान् चरित्र या महती घटना का वर्णन करके महाकाव्य का निर्माण कर दे। यदि उसमें प्रतिभा की न्यूनता नहीं है तो वह गद्य की शैली का प्रश्रय लेकर भी अपने समय की ही नित्य प्रति

की किसी साधारण से साधारण वार्ता को उपन्यास या कथा का रूप प्रदान कर सकता है। यदि उसको रंगमंच की विशेषताओं का परिचय है तो वह किसी भी प्राचीन या नवीन घटना या कथा को दृश्य-काव्य के वेश में अवतरित कर सकता है और हम अभिनय देखकर कवि को उसकी इस कला के लिए बधाई दे सकते हैं। इन भिन्न भिन्न शैलियों में यद्यपि अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार कविजन किसी एक या अनेक का प्रयोग करने में स्वतंत्र हैं, तथापि विषय के अनुकूल और सामर्थ्य के अनुसार इनमें से किसी एक का निरंतर अभ्यास करते रहने से उन्हें अधिक सफलता की संभावना रहती है और श्रोताओं अथवा सामाजिकों को भी अधिक रस-प्राप्ति की आशा होती है। उदाहरण के लिए यदि हम किसी देशव्यापी महायुद्ध और उसमें भाग लेनेवाले प्रचंड राष्ट्रों का कथानक लिख रहे हैं तो उचित होगा कि हम महाकाव्य की गंभीर और धीर ध्वनि में उसका प्रणयन करें। यदि हमारे मन में कोई ऐसी कथा है जिसके पात्र अपनी विचित्र प्रकृति के कारण अनोखी घटनावली की सृष्टि कर डालते हैं तो उन पात्रों और उस घटनावली को लेकर हम सहज में एक खंड-काव्य या अच्छा सा उपन्यास लिख सकते हैं। यदि कथा प्राचीन हो और घटना प्रेम-संबंधिनी हो तो खंड-काव्य लिखने में अधिक सुगमता है। यदि कथा नवीन और घटना बहुविषयक हो तो उपन्यास लिखना अधिक समीचीन होगा। इसी प्रकार यदि हमारी कल्पना में कोई ऐसा

घटनाचक्र घूम रहा है जिसका दृश्य देखकर हम प्रभावित और रसमग्न होते हैं तथा जिसके एक एक पात्र अपने स्वतंत्र अस्तित्व से हमें चकित करने में समर्थ हैं और वे पात्र आपस के संसर्ग से स्वतः ही एक कथानक बना लेते हैं और स्वतः ही उसे समाप्त भी कर देते हैं, तो उचित होगा कि हम उन कतिपय व्यक्तित्व-शाली पात्रों और उनके संसर्ग से बनी आकर्षक और वेगवती घटनावली को दृश्य काव्य के रूप में दिखा दें, उसे रूपक का रूप दे दें।

जैसा कि नाम से ही प्रकट है, "रूपक" काव्य की वह विशेष दिशा है जिसमें लोक-परलोक की घटित-अघटित घटनाओं का दृश्य दिखाने का आयोजन किया जाता है और इस कार्य के लिए अभिनय की सहायता ली जाती है। यद्यपि काव्य मात्र में कवि जीव-जगत् के भिन्न भिन्न व्यापारों की अनुकृति करता है पर दृश्य काव्य में वह अनुकृति, वह नकल, प्रत्यक्ष रूप में होती है और अनुकृति की उसमें प्रधानता रहती है। कवि या लेखक अपने स्वतंत्र विचारों को प्रकट करना चाहे तो वह भी किसी रूपक-पात्र के मुँह से ही कर सकता है। प्राचीन यूनान के आचार्य अरस्तू ने अनुकरण को ही कला कहकर दृश्य काव्य की ही ओर विशेष रूप से संकेत किया था; क्योंकि अनुकरण का स्पष्टतम रूप तो दृश्य काव्य में ही देख पड़ता है। चाहे हम प्राचीन रोम या यूनान के नाटकों की प्रगति पर ध्यान दें या भारतीय या चीनी रूपक-रचनाओं को देखें अथवा संसार के किसी भी

देश या समय के दृश्य काव्य पर दृष्टि डालें, अनुकरण की प्रधानता हमें सर्वत्र मिलेगी। यह बात नहीं है कि अनुकरण ही दृश्य काव्य का एकमात्र अंग हो या रहा हो। अनुकरण के अतिरिक्त नृत्य, गीत आदि अन्य उपकरण भी प्रायः सदैव उसके साथ रहे हैं। परंतु अनुकरण के अभाव में रूपक की वास्तविक प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, अन्य उपकरणों के अभाव में रूपक की रूप-रचना हो जाती है। आधुनिक प्रगति-प्राप्त नाटकों में नृत्य और गीत उत्तरोत्तर क्षीण होते जा रहे हैं और अनेक ऐसे नाटकों का निर्माण हो रहा है जिनमें न नृत्य है न गीत, तथापि उनको नाटक कहा जाता है और वे श्रेष्ठ रूपक भी माने जाते हैं। इसका कारण यह है कि रूपक का अत्यंत आवश्यक और अनिवार्य अंग अनुकरण उनमें मिलता है। यूनान की प्राचीनतम रचना-पद्धति में कुछ समय तक नृत्य ही प्रधान रहा और संवाद, कथानक अथवा अनुकरण कुछ काल उपरांत सम्मिलित किये गये। अतः उन अविकसित और प्रारंभिक कृतियों को सच्चे अर्थ में रूपक की संज्ञा नहीं दी जा सकती। उनको संवाद कहा जाय या कथोपकथन। अनुकरण ही दृश्य काव्य की प्रधान विशेषता, व्यक्तित्व और आत्मा है। काव्य-कला के भिन्न भिन्न स्वरूपों से यदि दृश्य काव्य की कोई सत्ता स्वीकार की जा सकती है तो इसी आधार पर कि उसमें अनुकरण का जैसा शुद्ध और अमिश्र रूप प्रस्फुटित होता है वैसा किसी अन्य काव्यांग में नहीं। अनुकरण ही दृश्य काव्य की मौलिक विशेषता है।

अनुकरण को लेकर योरप के साहित्यिक समाज में एक नवीन आंदोलन उठ खड़ा हुआ। इस आंदोलन को यथार्थवाद का आंदोलन कहते हैं और इसके द्वारा नाटकों के चित्रों और दृश्यों में एक अद्वितीय वास्तविकता और पात्रों में एक अभिनव सामयिकता आ गई है। जिस प्रकार नाटक-रचना में अनुकरण की वास्तविकता बढ़ी है उसी प्रकार रंगमंच का वातावरण भी अधिक यथार्थ बनाया गया है। इस काल के नाटकों में कलासंबंधी बड़ी महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। समय-संकलन और स्थल-संकलन में अधिक सुनियम पालन किये जाते हैं। गीत और नृत्य केवल प्रासंगिक और गौण बन गये हैं। नेपथ्य, आकाशभाषित और स्वगत, नाटक की स्वाभाविकता नष्ट नहीं करने पाते। प्राचीन धार्मिक रूढ़ियों के फंदे छूट गये हैं और शुद्ध साहित्यिक रूप में नाट्य-साहित्य का विकास हो रहा है। यूनान के ट्रेजेडी और कमेडी नाटकों में करुण और हास्य की दुनिया अलग अलग बनाई जाती थी और यह क्रम नवीन युग के आगम के पूर्व तक चलता रहा था; परंतु अब जीवन की ही भाँति सुख-दुःख-मिश्रित दृश्य नाटकों में भी दिखाये जाते हैं। नित्य प्रति की बोलचाल की भाषा ही अभिनय की भाषा बन गई है और चारों ओर से एक सामयिक वातावरण उदय होकर रंगमंच को घेर रहा है।

यथार्थवाद

ऊपर जिस यथार्थवाद की चर्चा की गई वह केवल इसलिए कि अभिनेय विषय के अधिक लोकसामान्य रूप का परिचय दे

दिया जाय। आजकल के नाटक यदि महाकाव्य के नाटकों को अपना पात्र न बनाकर लंडन के किसी मजदूर-परिवार के व्यक्तियों को अपने लिए चुनते हैं तो इसका अर्थ यही है कि आधुनिक नाटककार अपने चतुर्दिक् के वातावरण से अधिक प्रभावित हो रहे हैं और सामयिक समस्याओं पर अधिक ध्यान दे रहे हैं। इस सामयिकता और लोक-व्यवहार के अधिक सच्चे फोटोग्राफ को ही यदि यथार्थवाद कहते हैं तो मानना पड़ेगा कि आधुनिक नाटकों में यथार्थवाद की मात्रा खूब बढ़ी है। परंतु यदि हम सामयिक जीवन के अतिरिक्त प्राचीन काल का भी चित्र अंकित करना चाहें और आधुनिकता के बाह्य रूप के अतिरिक्त उसके अंतस् का भी रूप देखना चाहें तो हमारा यह यथार्थवाद उसकी अनुमति देगा या नहीं इसमें बहुत कुछ संदेह ही है। यदि वह हमें अपने चतुर्दिक् के घेरे से ऊपर उठाकर साँस लेने की सुविधा भी कर सके तो हमें उसका कृतज्ञ होना चाहिए; क्योंकि यथार्थवाद इस समय जिस संकीर्ण अर्थ में व्यवहृत हो रहा है उसमें इतने की भी गुंजाइश नहीं देख पड़ती। पर यथार्थ-वाद का व्यापक अर्थ ही लेना साहित्य के लिए कल्याणकर होगा।

भारतीय रूपक-रचना

यद्यपि वर्तमान काल के भारतीय नाटक अधिकांश में पश्चिमीय शैली का अनुकरण करके सफलता प्राप्त करना चाहते हैं, परंतु इस देश में स्वतंत्र रूप में रूपक-रचना का मार्ग प्रशस्त किया जा चुका है और हम निस्संकोच रूप से कह सकते हैं कि यहाँ का रचनाक्रम

पाश्चात्य प्रणाली से किसी अंश में कम उत्कृष्ट नहीं है। ईसा के कई शताब्दी पूर्व यहाँ 'नाट्य-शास्त्र' जैसा चमत्कारी ग्रंथ प्रणीत हो चुका था और भास, कालिदास जैसे श्रेष्ठ नाटककार अपनी नाट्य-सृष्टियाँ प्रसूत कर चुके थे। नाट्य-कला के नियमों का जितना सूक्ष्म निरूपण यहाँ किया गया उतना और कहीं नहीं। आरंभ में ही रूपक के तत्त्वों का प्रतिपादन करते हुए 'नाट्य-शास्त्र' लिखता है "एक बार वैवस्वत मनु के दूसरे युग में लोग बहुत दुःखित हुए। इस पर इंद्र तथा दूसरे देवताओं ने जाकर ब्रह्मा से प्रार्थना की कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए जिसमें सबका चित्त प्रसन्न हो सके। इस पर ब्रह्मा ने चारों वेदों को बुलाया और उन चारों की सहायता से नाट्य के पंचम वेद की रचना की। इस नये वेद के लिए ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लिया गया था"। यहाँ संवाद, गीत और नाट्य के तत्त्वों के अतिरिक्त 'रस-तत्त्व' पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। प्राचीन ऋषि ने कितनी पारदर्शी दृष्टि से अन्य तत्त्वों का नामोल्लेख करते हुए रस-तत्त्व का विस्मरण नहीं किया, इसके बिना नाटक का साहित्यिक और कलात्मक रूप प्रतिष्ठित नहीं हो सकता था।

रूपक के साहित्यिक रूप की स्थापना करने के उपरांत नाट्य-शास्त्र रंगशाला की ओर ध्यान देता है जिसे वह प्रेक्षागृह कहकर पुकारता है। जब हमारे इस सुपठित युग के बड़े बड़े समीक्षक

भी नाट्य के विवेचन में रंगमंच को भूल जाते हैं और ऐसे नाटकों की कल्पना कर लेते हैं जो केवल पढ़ने के लिए हैं, अभिनय के लिए नहीं, तब भरत मुनि

प्रेक्षागृह

नाट्यशास्त्र के दूसरे ही अध्याय में इस अनिवार्य प्रसंग को उठाते हैं और उसका सर्वतोमुख विवेचन करते हैं। भरत मुनि के अनुसार प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते हैं—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। विकृष्ट प्रेक्षागृह सबसे अच्छा होता है। उसकी लंबाई १०८ हाथ, चतुरस्र की लंबाई ६४ हाथ तथा चौड़ाई ३२ हाथ होती थी और त्र्यस्र प्रेक्षागृह त्रिकोण या त्रिभुजाकार होता था। चतुरस्र राजाओं, धनवानों तथा सर्वसाधारण के लिए होता था और त्र्यस्र में केवल आपस के थोड़े से मित्र या परिचित, बैठकर, नाटक देखते थे। प्रेक्षा-गृहों का आधा स्थान दर्शकों के लिए और आधा अभिनय तथा पात्रों के लिए नियत रहता था। रंगमंच का सबसे पिछला भाग रंगशीर्ष कहलाता था जो खंभों पर बना होता था, जिसमें से नेपथ्यगृह में जाने के लिए द्वार होते थे। रंगमंच की दीवालों पर उत्तम नक्काशी और वायु तथा प्रकाश के लिए झरोखे बनाये जाते थे। इसका ध्यान रखा जाता था कि रंगमंच पर आवाज़ अच्छी तरह गूँज सके। यदि संपूर्ण सामग्री नाट्यशास्त्र की विधियों के अनुसार प्रस्तुत की जाय तो अब भी श्रेष्ठ रीति से आधुनिक नाटकों का अभिनय करने में अधिक हेर-फेर करने की आवश्यकता नहीं होगी। यवनिका, नाटकीय वेश-भूषा

तथा रंगशाला के अन्य उपकरणों का सम्यक् विवरण नाट्यशास्त्र में दिया गया है।

रूपकों और उपरूपकों का विश्लेषण करते हुए नाट्य-शास्त्रकार विलक्षण सूक्ष्म बुद्धि का परिचय देते हैं। पाश्चात्य, यूनानी और यूरोपीय नाटकों की तरह यहाँ दुःखांत और सुखांत नाटकों का वर्गभेद नहीं किया गया। इसलिए यहाँ का नाट्य-साहित्य एक बड़े अंश में कृत्रिमता से बचा रहा। जीवन के आमोद-विषाद एक ही दृश्य में दिखाते हुए यहाँ के नाटककार मानों प्रकृति के सामने दर्पण लेकर खड़े हो गये हों। रूपकों के भिन्न भिन्न भेदों पर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि महाकाव्य के उदात्त पात्रों और घटनाओं से लेकर साधारण और विकृत पात्रों के व्यंग्य चित्र तक नाटकों में दिखाये जा सकते थे। संस्कृत में नाटक शब्द रूपक का एक भेद मात्र है। नाटक की कथा ख्यात और इतिहासप्रसिद्ध होनी चाहिए। नायक धीर, गंभीर, उदात्त, प्रतापी, कीर्तिकामी, महान्, उत्साहवाला, वेदों का रक्षक, राजा, राजर्षि या कोई दिव्य पुरुष हो। इसी प्रकार डिम, व्यायोग, समवकार आदि रूपकों में भी कथावस्तु पौराणिक अथवा ऐतिहासिक होनी चाहिए। इसके विपरीत प्रकरण, भाण, प्रहसन आदि रूपकों की कथा लौकिक और कवि-कल्पित होनी चाहिए। इस प्रकार के अनेक भेदों का हिसाब लगाकर देखा जाय तो प्रकट होगा कि भारतीय नाट्यशास्त्र का क्षेत्र बहुत

रूपकों का रूप

अधिक विस्तृत और जीवन की प्रत्येक प्रकार की घटनावली को स्पर्श करनेवाला है। इन रूपकों में कोई बहुत छोटे और कोई बड़े आकार के माने गये हैं। यहाँ भी नाटककार को अपनी वस्तु का विन्यास करने में स्वतंत्रता है। प्राकृतिक दृश्यों का दर्शन भी भारतीय नाटकों की एक उल्लेख योग्य विशेषता है। कालिदास के नाटक इस विशेषता से समन्वित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय नाटकों का कला-पक्ष विशेष समुन्नत और पुष्ट है तथा हमारे नाट्यशास्त्र में ऐसी व्यवस्थाएँ की गई हैं जिनसे अधिकाधिक रमणीयता, स्वाभाविकता और जीवन-संबंधिनी व्यापकता हमारे नाटकों का अंग बन सके।

अभिनय

दृश्य काव्य के साथ रंगमंच का घनिष्ठ संबंध आरंभ से ही स्थापित है और नाट्य-साहित्य के साथ विकास करते हुए अभिनय की भी एक कला बन गई है। कतिपय सम्मानित नाट्य-समीक्षकों का तो यह भी मत है कि रंगमंच और अभिनय की ही प्रगति पर दृश्य काव्य की प्रगति मुख्य रूप से अवलंबित रही है और नाटक-रचना की कला में तब तब उत्थान हुए हैं जब जब रंगशाला को कोई नई सुविधा प्राप्त हुई है अथवा अभिनय करनेवालों में किसी चमत्कारी प्रतिभा का उन्मेष हुआ है। प्राचीन यूनान की अविकसित अभिनय-शैली के अनुसार ही यूरोप के नाटक भी थे जिनमें या तो अश्लील गानों की भरमार थी या भयानक घटनाओं की। भारत में प्रथम ही यह व्यवस्था बन गई थी

कि मृत्यु, हत्या या उत्पीड़न के भयानक दृश्य रंगमंच पर न दिखाये जायँ। इसका परमोत्कृष्ट प्रभाव यह पड़ा कि यहाँ के नाटक बर्बर और असभ्य प्रदर्शन से बच गये और लोकरंजनकारी बने रहे। यहाँ अभिनय के (१) आंगिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य और (४) सात्त्विक विभाग कर दिये गये थे, जिनमें क्रमशः अंग-संचालन, वाणी, वेश-भूषा और भाव-प्रदर्शन की रीति की शिक्षा दी जाती थी। इन सबसे अनुकरण की यथार्थता सिद्ध होती थी और यही अभिनय की सर्वश्रेष्ठ सफलता है। नाटककार देश, काल और पात्र का यथोचित ध्यान रखते थे और भिन्न भिन्न पात्रों से उनके अनुरूप संस्कृत अथवा प्राकृत भाषा का व्यवहार कराते थे। चमत्कार उत्पन्न करने के आशय से यहाँ के नाट्यशास्त्रों की वस्तुविन्यास-संबंधिनी अनेक ज्ञातव्य शैलियाँ बताई गई हैं जिनका प्रयोग उस काल के नाटकों में बड़ी सफलता के साथ किया गया था। रंगमंच भी उस समय में विशेष रूप से विकसित और संपन्न था। नेपथ्य, आकाशभाषित, स्वगत आदि की जो विधियाँ ईसवी पूर्व शताब्दियों से व्यवहार में लाई जाती थीं और जिनमें स्वाभाविकता की रक्षा का स्पष्ट प्रयत्न देख पड़ता था वे यहाँ के उन्नतिप्राप्त रंग-मंच की साक्षी हो सकती हैं।

पाश्चात्य नाट्य-शास्त्रियों के अनुसार नाटकों के छः तत्त्व होते हैं; यथा—वस्तु, पात्र, कथनोपकथन, देश-काल, शैली और उद्देश्य। यहाँ पर हमें यह भी जान लेना चाहिए कि हमारे

आचार्यों ने नाटक के केवल तीन तत्त्व माने हैं—अर्थात् वस्तु, नायक और रस। और इसी आधार पर उन्होंने रूपकों के भेद और उपभेद निश्चित किये हैं। यह समझ में नहीं आता कि जिस देश में नाटकों का अत्यंत प्राचीन रूप कथनोपकथन वेदों में रक्षित हो, उसे हमारे आचार्यों ने एक मुख्य तत्त्व क्यों नहीं माना। इसमें संदेह नहीं कि कथनोपकथन का समावेश 'नायक' तत्त्व में ही आ जाता है। साथ ही देश-काल का विवेचन भी इसी तत्त्व के अंतर्गत लाया जा सकता है। पर उद्देश्य की ओर अलग ध्यान देने की आवश्यकता है। सुगमता और स्पष्टता के विचार से हम नाटक के छः तत्त्व मानकर उन पर विचार करेंगे। सबसे पहले कथा-वस्तु को लीजिए। उपन्यासों के विस्तार के संबंध में कोई नियम निर्धारित नहीं हो सकता। उपन्यास छोटे से छोटा भी हो सकता है और बड़े से बड़ा भी। अतः उसमें सामग्री का उपयोग लेखक की इच्छा पर निर्भर करता है। वह जितना बड़ा उपन्यास चाहे, लिख सकता है और उसमें अधिक से अधिक सामग्री का उपयोग कर सकता है। पर नाटककार को यह स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। वह न तो कथा-वस्तु का मन-माना विस्तार कर सकता है और न मनमानी सामग्री का उप-योग कर सकता है। नाट्य-साहित्य के निर्माण के प्रायः साथ ही साथ कुछ ऐसे नियम बन जाते हैं, जिनका पालन नाटककार के लिए आवश्यक होता है। उपन्यास पढ़ने में आप कई दिन,

नाटक के छः तत्त्व—
वस्तु

बल्कि कई महीने भी लगा सकते हैं; पर नाटक ऐसा ही होना चाहिए जो एक ही बैठक में, अथवा चार-छः घंटे में, देखा जा सके। इसी लिए नाटक की वस्तु मर्यादित होती है। यदि कोई ऐसा नाटक हो, जैसा कि हिंदी में चौधरी बदरीनारायण-कृत 'भारत-सौभाग्य' नाटक है, जिसके अभिनय में सारी रात लग जाय, तो वह नाट्य-कला की दृष्टि से कभी नाटक कहलाने का अधिकारी न हो सकेगा। उपन्यास को तो आप जब चाहें तब पढ़ने के लिए उठा सकते हैं और जब चाहें तब उसे बीच में ही छोड़ सकते हैं, पर नाटक के संबंध में यह बात नहीं हो सकती। यदि नाटक के दर्शक पहर डेढ़ पहर लगातार बैठे रहने के उपरांत उकता जायँ तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। और फिर उस दशा में अच्छे से अच्छे दृश्य भी उनका मनोरंजन करने में असमर्थ होंगे। यही कारण है कि यदि कोई नया या अनभिज्ञ लेखक कोई बहुत अच्छा, पर साथ ही बहुत बड़ा, नाटक तैयार करता है तो अभिनय के काम के लिए उसका एक अलग और संक्षिप्त रूप तैयार किया जाता है। अतः पहला सिद्धांत यह निकला कि नाटक यथासाध्य संक्षिप्त और ऐसा होना चाहिए जिसके अभिनय में इतना अधिक समय न लगे जिससे दर्शक ऊब जायँ। इस काम में नाटककार को अपनी सारी सामग्री में से बहुत ही काम की और मुख्य मुख्य बातें चुननी पड़ती हैं; और जो बातें नितांत आवश्यक न हों, उन्हें छोड़ देना पड़ता है। अच्छा नाटककार केवल उन्हीं घटनाओं

आदि के दृश्य प्रस्तुत करता है जो बहुत ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण होती हैं। हमारे यहाँ के प्राचीन आचार्यों ने कथा-वस्तु के दृश्य और सूच्य ये दो विभाग किये हैं। जिन घटनाओं आदि का अभिनय रंगशाला में प्रत्यक्ष रूप से दिखलाया जाता है। वे दृश्य कहलाती हैं; और जो बातें या घटनाएँ किसी न किसी रूप में केवल सूचित कर दी जाती हैं उनको सूच्य कहते हैं। अतः नाटककार को उचित है कि जो बातें या घटनाएँ प्राचीन आचार्यों के अनुसार मधुर, उदात्त, रसपूर्ण—और आज-कल की अवस्था को देखते हुए महत्त्वपूर्ण, आवश्यक और प्रभावशालिनी—हों उन्हीं को वस्तु के दृश्य-अंग में स्थान दें, और जो बातें प्राचीन आचार्यों के अनुसार नीरस अथवा अनुचित और आजकल की अवस्था को देखते हुए निरर्थक या कम महत्त्व की हों, उन्हें वस्तु के सूच्य अंग में स्थान दें, अर्थात् दर्शकों को किसी प्रकार उनकी सूचना मात्र करा देनी चाहिए। वस्तु दो प्रकार की होती हैं—(१) आधिकारिक और (२) प्रासंगिक। मूल कथा-वस्तु को आधिकारिक और गौण कथा-वस्तु को प्रासंगिक कहते हैं। प्रासंगिक कथावस्तु का उद्देश्य आधिकारिक कथा-वस्तु की सौंदर्य-वृद्धि करना और मूल कार्य या व्यापार के विकास में सहायता देना है। रूपक के प्रधान फल का स्वामित्व अर्थात् उसकी प्राप्ति की योग्यता "अधिकार" कहलाती है। उस फल का स्वामी अर्थात् उसे प्राप्त करनेवाला "अधिकारी" कहलाता है। उस अधिकारी की कथा को आधिकारिक वस्तु कहते हैं। इस

प्रधान वस्तु के साधक इतिवृत्त को प्रासंगिक वस्तु कहते हैं; जैसे रामायण में रामचंद्र का चरित्र आधिकारिक वस्तु और सुग्रीव का चरित्र प्रासंगिक वस्तु है। प्रासंगिक वस्तु में दूसरे की अर्थसिद्धि होती है और प्रसंग से मूल नायक का स्वार्थ भी सिद्ध होता है। प्रासंगिक कथा-वस्तु के दो भेद हैं—पताका और प्रकरी। जब कथा-वस्तु सानुबंध होती है, अर्थात् बराबर चलती रहती है, तब उसे "पताका" कहते हैं; और जब वह थोड़े काल तक चलकर रुक जाती है या समाप्त हो जाती है तब उसे "प्रकरी" कहते हैं, जैसे शकुंतला नाटक के छठे अंक में दास और दासी की बातचीत है।

पात्र

वस्तु की भाँति चरित्र-चित्रण के संबंध में भी नाटक और उपन्यास में बहुत अंतर है। कुछ लोग कहा करते हैं कि नाटकों में नाट्य की ही प्रधानता होती है। इसलिए उनमें चरित्र-चित्रण को विशेष महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं। और कुछ लोग यही समझकर नाटक लिख भी डालते हैं। पर ऐसा समझना बड़ी भारी भूल है। नाटकों में भी चरित्र-चित्रण का उतना ही अधिक महत्त्व रहता है, जितना कि उपन्यासों में उसे प्राप्त है। यदि किसी नाटक में कोई कथानक या घटनामाला ही हो और उपयुक्त चरित्र-चित्रण न हो तो नाट्य-कला की दृष्टि से उसका महत्त्व अमानत की इंद्रसभा से बढ़कर नहीं हो सकता। वास्तव में चरित्र-चित्रण ही नाटक का सर्वप्रधान और स्थायी तत्त्व है।

शेक्सपियर या द्विजेंद्रलाल राय के नाटकों का महत्त्व इसी लिए है कि उनमें चरित्र-चित्रण की प्रधानता है। उन नाटकों में मुख्यतः पात्रों के विचारों और भावों का विकास ही दिखलाया गया है, जो चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। नाटक के दर्शकों पर सबसे अधिक प्रभाव और परिणाम इसी चरित्र-चित्रण का पड़ता है। यदि किसी नाटक का वस्तु-विन्यास तो बहुत अच्छा हो, पर उसमें चरित्र-चित्रण का अभाव हो, तो संभव है कि साहित्य-क्षेत्र में उसका आदर हो जाय, परंतु रंगशाला में वह कभी सर्वप्रिय न हो सकेगा।

नाटक की कथा-वस्तु की भाँति उसका चरित्र-चित्रण भी संक्षिप्त ही होना चाहिए। नाटकों के कथोपकथन का प्रत्येक शब्द कुछ विशेष महत्त्व का और अर्थ-पूर्ण होना चाहिए और उसके प्रत्येक अंग का सारे नाटक से कुछ विशेष संबंध होना चाहिए। उसके प्रत्येक पात्र का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो सारी कथा-वस्तु को देखते हुए बहुत ही उपयुक्त और आवश्यक जान पड़े। नाटक के नायक या दूसरे प्रधान पात्रों के उन्हीं गुणों और विशेषताओं आदि का प्रदर्शन होना चाहिए जिनका सारे नाटक पर विशेष प्रभाव पड़ता हो। चरित्र-चित्रण आदि में नाटककार को ऐसी कठिनता का सामना करना पड़ता है जिससे उपन्यास-लेखक बिलकुल मुक्त रहता है। उपन्यास-लेखक तो समय समय पर स्वयं भी अपने उपन्यास के पात्रों में सम्मिलित हो जाता है और उनके भाव तथा विचार आदि स्पष्ट करने के

लिए उनके संबंध में टीका-टिप्पणी भी करता चलता है। पर नाटककार को अपनी ओर से कुछ भी कहने का अधिकार नहीं होता। विशेषतः जिस अवसर पर नाटककार को अपने किसी पात्र के बहुत ही सूक्ष्म भावों का प्रदर्शन करना पड़ता है उस समय तो उसकी कठिनता और भी बढ़ जाती है।

पात्रों के अंतर्गत भारतीय आचार्यों ने, नायक और नायिका पर विशेष रूप से विवेचन किया है। उनके अनुसार रूपक के प्रधान पात्र को नायक कहते हैं; क्योंकि वह नाटकीय शृंखला को अग्रसर करता हुआ अंत तक ले जाता है। भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार उसे अनेक उच्च गुणों का आधार होना चाहिए, परंतु प्रत्येक गुण उचित सीमा के अंदर हो। नायक नम्र हो, किंतु उसकी नम्रता ऐसी न हो कि दूसरे उसको पद-दलित करते रहें। भारतीय नाट्यशास्त्र के नायक की नम्रता दौर्बल्य का नहीं वरन् उच्च संस्कृति और शील का लक्षण है। इसी लिए नम्रता के साथ साथ आत्म-सम्मान और तेजस्विता आदि गुणों का भी विधान है। स्वभाव-भेद से नायक चार प्रकार के कहे गये हैं—शांत, ललित, उदात्त और उद्धत। इन चारों के फिर चार उपभेद किये गये—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। ये चारों भेद एक ही नायक की उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती हुई अवस्थाओं के भी हो सकते हैं। नायक जब तक एक ही पत्नी में अनुरक्त रहता है तब तक वह अनुकूल रहता है। अन्य किसी के प्रेम-पाश में पड़ जाने पर पहले वह नवीन प्रेम को

छिपाने का प्रयत्न करता है और साथ ही अपनी ज्येष्ठा नायिका से पूर्ववत् प्रेमाचरण करता है। यहाँ तक वह दक्षिण रहा, पर नवीन प्रेम के प्रकट हो जाने पर उसकी शाठ्य अवस्था हो जाती है। यदि वह कुटिल, नीचवृत्ति या निर्लज्ज हुआ, या आगे चलकर ऐसा हो गया, तो वह अपने विप्रियाचरण के चिह्नों को छिपाता भी नहीं है तथा निर्लज्ज होकर ज्येष्ठा नायिका का जी दुखाता है, जिससे पूर्वा नायिका खंडिता भी कहलाती है। यह नायक की धृष्टता हुई। परंतु सहृदय नायक पूर्व नायिका के साथ सहानुभूति रखता है, उसके सपत्नी-जात दुःख को समझता है और उससे पूर्ववत् प्रेम रखता है।

नायक की प्रिय पत्नी को नायिका कहते हैं। आधुनिक पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में यह आवश्यक नहीं कि नायक की प्रिया या पत्नी ही नायिका हो। स्त्रियों में से जिसका नाटकीय कथा-प्रवाह में प्रधान भाग हो वही पाश्चात्यों के अनुसार नायिका होती है, चाहे वह नायक की प्रिया हो चाहे कोई और। परंतु भारतीय नाट्यशास्त्र में नायक की प्रिया ही नायिका कहलाती है। नायक के सामान्य गुण नायिका में भी होने चाहिएँ। नाट्याचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नायिकाओं के चार भेद गिनाये हैं—दिव्या, नृपतिनी, कुलस्त्री और गणिका। परंतु आगे चलकर ये भेद उतने मान्य नहीं हुए। अन्य शास्त्रकारों ने इस विषय का विवेचन और ही प्रकार से किया है। सर्वमान्य विवेचन नायिका के स्वकीया,

परकीया, और सामान्या इन तीन भेदों से आरंभ होता है। स्वकीया अपनी और परकीया पराई होती है तथा सामान्या किसी की स्त्री नहीं होती। सामान्या का दूसरा नाम गणिका या वेश्या भी है। स्वकीया के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा भेद होते हैं। मध्या और प्रगल्भा के धीरा, धीराधीरा और अधीरा ये उपभेद होते हैं और फिर प्रत्येक के ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेद होते हैं। परकीया के ऊढा और अनूढा ये ही दो भेद होते हैं।

इनके अतिरिक्त नायिका के व्यवहार और दशा भेद के अनुसार आठ भेद और होते हैं—(१) स्वाधीनपतिका, (२) वासकसज्जा, (३) विरहोत्कंठिता, (४) खंडिता, (५) कलहांतरिता, (६) विप्रलब्धा, (७) प्रोषितपतिका और (८) अभिसारिका।

नायिका की ये आठों अवस्थाएँ एक दूसरी से भिन्न होती हैं। उनमें आपस में कोई अंतर्भाव नहीं होता। समय समय पर एक ही नायिका की प्रत्येक अवस्था हो सकती है; परंतु दो अवस्थाएँ एक साथ नहीं आ सकतीं। स्वाधीनपतिका वासकसज्जा नहीं है; क्योंकि वासकसज्जा का पति उसके पास नहीं रहता। जिसका पति घर आनेवाला हो (वासकसज्जा) उसे, यदि स्वाधीनपतिका मानें तो प्रोषितप्रिया को भी स्वाधीनपतिका मानना पड़ेगा, जिसकी असंगतता स्पष्ट है। प्रिय के समीप होने से वह विरहोत्कंठिता, कलहांतरिता या विप्रलब्धा नहीं है। अपने पति का वह कोई भी अपराध नहीं जानती, इससे खंडिता

नहीं है। भोगेच्छा और रति में प्रवृत्त होने के कारण वह प्रोषितप्रिया भी नहीं है। स्वयं पति के पास जाने अथवा पति को अपने पास बुलाने की उसे आवश्यकता नहीं होती, इससे वह अभिसारिका भी नहीं है। इसी प्रकार विरहोत्कंठिता भी औरों से भिन्न है। पति के आने की अवधि बीत जाने के कारण वह वासकसज्जा नहीं है। विप्रलब्धा का पति आने की प्रतिज्ञा करके भी धोखा देने के विचार से नहीं आता, इसलिए वह विरहोत्कंठिता और वासकसज्जा से भिन्न है। कलहांतरिता को अपने पति का अपराध ज्ञात रहता है, पर वह खंडिता से भिन्न है; क्योंकि उसका प्रिय अनुनय करता है जिसे स्वीकार न कर वह पश्चात्ताप करती है। इस प्रकार धनिक ने अवस्थाओं के अनुसार इस विभाग की संगति दिखाई है।

परकीया की, चाहे वह ऊढा हो या अनूढा, इन आठ अवस्थाओं में से केवल तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं। संकेत-स्थान को चलने से पहले वह विरहोत्कंठिता होती है। विदूषक, दूती आदि के साथ संकेत-स्थान पर जाने से वह अभिसारिका होती है, और कदाचित् उसका प्रिय संकेत-स्थान पर न आया हो तो वह विप्रलब्धा हो जाती है। शेष पाँच अवस्थाएँ परकीया की नहीं हो सकतीं।

इस प्रकार हमारे आचार्यों ने अपनी सूक्ष्मदर्शिता के कारण इस विषय को बहुत विस्तार दिया है, पर यूरोप में केवल भाव को

मूल बताकर नायक और नायिका का विवेचन किया गया है। उनके भेद उपभेद नहीं किये गये हैं।

यों तो, अच्छे नाटकों में, केवल वस्तु और पात्र से ही नाटक की मुख्य मुख्य बातों का पता चल जाता है, पर कथोपकथन से हमें उसकी सूक्ष्म बातें समझने में भी सहायता मिलती है। पात्रों के भावों, विचारों और प्रवृत्तियों आदि के विकास और विरोध आदि का बहुत कुछ पता हमें कथोपकथन से भी चलता है। कुछ नाटक ऐसे होते हैं जिनमें मनोविज्ञान के सिद्धांतों का विशेष ध्यान रखकर चरित्र-चित्रण किया जाता है और कथा-वस्तु का संबंध कुछ ऐसी बातों के साथ भी होता है जो प्रत्यक्ष अभिनय में नहीं आतीं। उस अवस्था में कथोपकथन मानों अभिनय का एक प्रधान अंग हो जाता है। ऐसे नाटकों में कथोपकथन का महत्त्व और भी बढ़ जाता है; क्योंकि कथावस्तु का सारा विकास और उसकी व्याख्या उस कथोपकथन पर ही अवलंबित रहती है। परंतु फिर भी साधारणतः उपन्यास की भाँति नाटक में भी कथोपकथन का प्रत्यक्ष संबंध चरित्र-चित्रण के साथ ही रहता है। प्रायः उपन्यासों में भी किसी विषय की व्याख्या या स्पष्टीकरण आदि के लिए कथोपकथन का ही सहारा लिया जाता है और लेखक की टीका-टिप्पणी अपेक्षाकृत कुछ कम ही होती है। पर नाटकों में तो लेखक को अपनी ओर से कुछ कहने या टीका-टिप्पणी आदि करने का कोई अधिकार ही नहीं होता; इसलिए व्याख्या या टीका-टिप्पणी आदि का सारा

कथोपकथन

काम केवल कथोपकथन से ही लिया जाता है। इस प्रकार कथोपकथन भी चरित्र-चित्रण का एक साधन सिद्ध होता है।

कथोपकथन के द्वारा दो प्रकार से चरित्र-चित्रण होता है। एक तो कुछ पात्रों के आपस के कथोपकथन से उनके चरित्र का परिचय मिलता है और दूसरे जब कोई पात्र किसी दूसरे पात्र का कोई उल्लेख या वर्णन करता है तब उस उल्लेख या वर्णन से भी उस दूसरे पात्र के चरित्र का ज्ञान होता है। साधारणतः किसी पात्र की बातचीत से ही उसके चरित्र और आचरण आदि का बहुत कुछ पता लग जाता है।

कथोपकथन के प्रकार

परंतु आवश्यकता पड़ने पर उसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए दूसरों के मुँह से भी उसके संबंध में कुछ कहला देना चाहिए। उनमें का कोई वाक्य परस्पर-विरोधी नहीं होना चाहिए और सभी कथनों से प्रायः एक अभिप्राय निकलना चाहिए। हाँ, किसी पात्र के विरोधी या शत्रु के मुँह से और और प्रकार की बातें अवश्य कहलाई जाती हैं। उदाहरणार्थ यदि शिवाजी के संबंध का कोई नाटक हो तो औरंगजेब और उसके कुछ साथियों के मुँह से शिवाजी के संबंध में भले ही कुछ उलटी-सीधी बातें कहलाई जा सकती हैं; पर शेष अधिकांश पात्रों के मुँह से ऐसी ही बातें कहलानी चाहिएँ जिनसे शिवाजी के वास्तविक चरित्र-चित्रण में ही सहायता मिलती हो, और बातें आपस में एक दूसरी का समर्थन और पुष्टि करती हों।

हमारे यहाँ के प्राचीन आचार्यों ने कथोपकथन या दृश्य-वस्तु के तीन विभाग किये हैं—नियत श्राव्य, सर्वश्राव्य और अश्राव्य। जिस समय रंगमंच पर कई पात्र होते हैं उस समय यदि उनमें से कोई पात्र बाकी पात्रों से छिपाकर केवल कुछ नियत पात्रों से ही कुछ कहता है, तो उसे नियत श्राव्य कहते हैं; और यदि वह सभी पात्रों को सुनवाने के लिए कोई बात कहता है तो उसके कथन को सर्वश्राव्य कहते हैं। पर कभी कभी ऐसा भी होता है कि वह इस प्रकार कोई बात कहता है मानों किसी को सुनाना नहीं चाहता और न कोई उसकी बात सुनता ही है। ऐसे कथन को अश्राव्य, स्वगत या आत्मगत कहते हैं। हम ऊपर जिस कथन का उल्लेख कर आये हैं वह नियत श्राव्य और सर्वश्राव्य दोनों के अंतर्गत आ सकता है। पर अब हम अश्राव्य या स्वगत के संबंध में कुछ कहना चाहते हैं। जिस अवसर पर उपन्यास-लेखक स्वयं अपनी ओर से प्रत्यक्ष टीका-टिप्पणी करता है उस अवसर पर नाटककार इस अश्राव्य या स्वगत कथन से काम लेता है। कथन के इस प्रकार का उद्देश्य बहुत ही स्पष्ट है। इस कथन-प्रकार के द्वारा नाटककार हमें उस पात्र के उन आंतरिक और गूढ़ विचारों आदि से परिचित कराता है जिन्हें वह साधारण कथोपकथन में प्रकट नहीं कर सकता। कभी कभी किसी पात्र के आचरणों को समझने के लिए हमें उसके आंतरिक भावों और विचारों से भी परिचित होने की आवश्यकता पड़ती

स्वगत कथन

है। उपन्यास-लेखक तो स्वयं अपनी ओर से लिखकर भी हमें उन आंतरिक भावों और विचारों से परिचित करा सकता है, पर नाटककार को ऐसे अवसर पर इसी स्वगत कथन की शरण लेनी पड़ती है।

इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ एक और प्रकार का कथन होता है जो पाश्चात्य देशों के नाटकों में नहीं होता। इसे आकाश-भाषित कहते हैं। इसमें पात्र ऐसा नाट्य करता है मानों उससे कोई कुछ पूछ रहा है, और तब वह उसका उत्तर देता है। कभी कभी यह कथन-प्रकार बहुत उपयोगी और रोचक होता है और इसके दृश्य का सौंदर्य बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ सत्यहरिश्चंद्र नाटक में जब राजा हरिश्चंद्र बिकने के लिए काशी की गलियों में घूमते हैं और कहते फिरते हैं कि कोई हमें मोल ले ले, तब बीच में ऊपर की ओर देखकर मानों किसी के प्रश्न के उत्तर में कहते हैं "क्या कहा? तुम क्यों ऐसा दुष्कर्म करते हो? आर्य, यह मत पूछो। यह सब कर्म की गति है।" (फिर ऊपर देखकर) "क्या कहा? तुम क्या कर सकते हो, क्या समझते हो और किस तरह रहोगे। इसका क्या पूछना है। स्वामी जो कहेगा वह करेंगे; समझते सब कुछ हैं, पर इस अवसर पर समझना कुछ काम नहीं आता; और जैसे स्वामी रखेगा वैसे रहेंगे। जब अपने को बेच ही दिया है तब इसका क्या विचार है"। (फिर ऊपर देखकर) "क्या कहा, कुछ दाम कम करो। आर्य, हम लोग क्षत्रिय हैं, हम दो बातें कहाँ

आकाश-भाषित

से जानें, जो कुछ ठीक था, वह कह दिया"। इसी प्रकार मुद्राराक्षस में दूसरे अंक के आरंभ में मदारी आते ही कहता है—"(आकाश में देखकर) महाराज, क्या कहा? तू कौन है? महाराज, मैं जीर्णविष नाम सँपेरा हूँ" (फिर आकाश की ओर देखकर) "क्या कहा, मैं राजसेवक हूँ? तो आप तो साँप के साथ खेलते ही हैं। (फिर ऊपर देखकर) क्या कहा—जैसे, मंत्र और जड़ी बिन मदारी और आँकुस बिन मतवाले हाथी का हाथीवान, वैसे ही नये अधिकार के संग्राम-विजयी राजा के सेवक ये तीनों अवश्य नष्ट होते हैं"।

संकलन-त्रय

कथोपकथन के उपरांत हमारे क्रम में देश-काल का स्थान आता है। यों तो उपन्यास में देश-काल के संबंध में जिन बातों का विचार रखना पड़ता है, प्रायः उन सभी बातों का विचार नाटक के देश-काल में भी रखना पड़ता है। पर देश-काल का विवेचन करते हुए हमें प्रसंग-वश नाटक के संकलन-त्रय पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। यह संकलन काल और देश के अतिरिक्त वस्तु के संबंध में भी होता है। इनको वस्तु-संकलन, काल-संकलन और देश या स्थल-संकलन कहते हैं। ये तीनों संकलन प्राचीन यूनानी नाटक के मुख्य अंग थे और अब प्रायः फ्रांसीसी नाटकों को छोड़कर और कहीं देखने में नहीं आते। प्रायः आक्षेप किया जाता है कि भारतीय नाटकों में संकलन-त्रय का कुछ भी ध्यान नहीं रखा जाता। प्राचीन यूनानी आचार्यों ने यह सिद्धांत

स्थिर किया था कि आदि से अंत तक सारा अभिनय किसी एक ही कृत्य के संबंध में होना चाहिए, किसी एक ही स्थान का होना चाहिए और एक ही दिन का होना चाहिए। अर्थात् एक दिन में एक स्थान पर जो कुछ कृत्य हुए हों उन्हीं का अभिनय एक बार में होना चाहिए। नाटक-रचना का यह नियम यूनान से इटली में और इटली से फ्रांस में गया था, जहाँ बहुत दिनों तक इसका पालन होता रहा। नाटककार को अपनी रचना में इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि कथा का निर्वाह आदि से अंत तक बिलकुल समान हो; आदि से अंत तक एक ही मुख्य कथा-वस्तु और एक ही मुख्य सिद्धांत हो। कुछ गौण कथा-वस्तुएँ और सिद्धांत भी उसमें समाविष्ट हो सकते हैं, पर उनका समावेश ऐसे ढंग से होना चाहिए जिसमें मूल कथा या सिद्धांत के साथ उनका ओत-प्रोत संबंध स्थापित हो जाय और वे कहीं से अलग या उखड़े हुए न जान पड़ें।

काल-संकलन का यदि बिलकुल ठीक ठीक अर्थ लिया जाय तो यही सिद्धांत निकलता है कि जो कृत्य वास्तव में जिस समय

काल-संकलन

में हुआ हो, उसका अभिनय भी उतने ही समय में होना चाहिए। इस नियम का अपने वास्तविक अर्थ में पालन प्राचीन यूनानी नाटकों को ही शोभा देता होगा, पर और कभी या कहीं यह अभीष्ट नहीं हो सकता। प्राचीन यूनानी नाटक दिन दिन या रात रात

भर होते रहते थे, इसलिए यूनान के सुप्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता अरस्तू ने यह नियम बना दिया था कि एक दिन और रात अर्थात् चौबीस घंटों में जो जो कृत्य हुए अथवा हो सकते हों, उन्हीं का समावेश एक अभिनय में होना चाहिए। पीछे से एक फ्रांसीसी नाटककार ने यह नियम बना दिया कि चौबीस नहीं बल्कि तीस घंटों में जो जो कृत्य हो सकते अथवा हुए हों, उन्हीं का समावेश एक नाटक में होना चाहिए। पर साधारणतः नाटक प्रायः तीन चार घंटे में ही पूरे हो जाते हैं, इसलिए यदि चौबीस या तीस घंटों का काम तीन चार घंटों में दिखलाया जाय, तो उसे भी काल-संकलन नहीं कह सकते। और यदि तीन चार घंटों के अंदर चौबीस या तीस घंटों के कृत्य दिखलाने में काल-संकलन का पालन हो सकता है, तो फिर साल छः महीने का कृत्य दिखाने में वह क्यों बाधक होता है? इससे सिद्ध है कि संकलन का यह नियम यूनानी नाटकों की बिलकुल आरंभिक अवस्था में बना था और पीछे से उन लोगों ने बिना समझे-बूझे उसका पालन किया था। पर अब प्रश्न यह होता है कि नाटक-रचना में काल या समय के संकलन का कहाँ तक और किस रूप में ध्यान रखना चाहिए। हमारी समझ में नाटक की घटनाएँ चाहे एक दिन की हों चाहे एक सप्ताह की हों, काल-संकलन को उसमें कभी बाधक न होना चाहिए। इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि घटनाओं का उल्लेख पहले होनेवाली घटनाओं या दृश्यों के पीछे न हो। दूसरी बात यह

है कि दो घटनाओं के बीच में जो समय वास्तव में बीता हो उस पर दर्शकों का ध्यान न जाने पावे। तीसरी बात यह है कि साधारणतः नाटकों में दो चार वर्षों की घटनाएँ तो सहज में खप सकती हैं, पर इससे अधिक समय की घटनाएँ एक ही नाटक में दिखलाने के लिए रचना-संबंधी विशेष कौशल और चातुर्य की आवश्यकता होती है। वह कौशल इसी बात में है कि बीच में बीतनेवाले समय पर दर्शकों का कभी ध्यान न जाने पावे और न उनको यह बतलाने की आवश्यकता पड़े कि बीच में इतना समय बीता है।

हमारे प्राचीन आर्य भी काल-संकलन का महत्त्व समझते थे और उसका ध्यान रखते थे। यही नहीं, बल्कि हमारे यहाँ काल-संकलन का कई दृष्टियों से और पूरा पूरा ध्यान रखा जाता था। हमारे यहाँ रूपक के दस प्रकार माने गये हैं। उनमें से छठा प्रकार व्यायोग है। नियम है कि व्यायोग एक ही अंक का होना चाहिए और उसमें एक ही दिन का चरित्र रखा जाना चाहिए। रूपक का सातवाँ प्रकार समवकार तीन अंकों का होना चाहिए। उसके पहले अंक में बारह घड़ियों का चरित्र या वृत्तांत दूसरे अंक में किसी के मत से चार घड़ियों का और किसी के मत से तीन घड़ियों का वृत्तांत और तीसरे अंक में दो घड़ियों का वृत्तांत या चरित्र होना चाहिए। इसी प्रकार उपरूपक का दुर्मल्लिका नामक पंद्रहवाँ प्रकार है। उसमें चार अंक होते हैं। पहले अंक में विट की क्रीड़ा तीन घड़ी की, दूसरे अंक में विदू-

षक का विलास पांच घड़ी का, तीसरे अंक में पीठमर्द का विलास छः घड़ी का और चौथे अंक में नायक की क्रीड़ा दस घड़ी की होनी चाहिए। इन नियमों से सिद्ध होता है कि भारतीय नाटकों में औरों की अपेक्षा काल-संकलन का ध्यान बहुत अधिक और अच्छे ढंग से रखा जाता था।

स्थल-संकलन

अब तीसरा संकलन स्थल या देश का है। यूनानियों के स्थल-संकलन का अर्थ यह है कि रंगशाला का दृश्य आदि से अंत तक एक ही रहना चाहिए, अर्थात् नाटक की रचना ऐसी होनी चाहिए जो एक ही स्थान में, एक ही दृश्य में, दिखलाई जा सके। अभिनय के बीच में रंगभूमि के दृश्य में इस नियम के अनुसार किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। यूनानियों ने यह नियम इसलिए बनाया था कि उनके नाटकों के गानेवाले आदि से अंत तक रंगभूमि पर ही उपस्थित रहते थे और बीच बीच में आवश्यकता पड़ने पर गाने लगते थे। उनके अंक और दृश्य आदि तो होते ही न थे, इसलिए नाटक के बीच में कहीं विश्राम भी न होता था। जितनी देर तक गानेवाले गीत गाते रहते थे, उतनी देर तक दर्शकों के लिए एक प्रकार से विश्राम हो जाता था; पर रंगशाला में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त उनके नाटकों की रचना भी इतनी सादी और साधारण होती थी कि उन्हें स्थल के दृश्य में विशेष परिवर्तन की आवश्यकता ही न होती थी। और यदि

किसी अच्छे नाटककार को कभी नाटक का सौंदर्य बढ़ाने के लिए दृश्य-परिवर्तन की आवश्यकता भी पड़ती थी, तो वह संकलनवाले इस नियम का पालन करने के लिए उसे बचा जाता था। नाटकों में अनेक ऐसे प्रयोग होते हैं जो उनके चुने हुए पात्रों के अतिरिक्त दूसरे पात्रों के सामने नहीं होने चाहिएँ। पर यूनानी नाटकों में ऐसे प्रयोग भी सभी पात्रों के सामने हुआ करते थे। यह व्यवस्था कला की दृष्टि से दूषित और साथ ही नाटक के तत्त्वों का ध्यान रखते हुए बहुत कुछ अस्वाभाविक थी। इसी लिए हमारे यहाँ इसका ग्रहण नहीं हुआ।

उपन्यासों और नाटकों के पाँचवें तत्त्व शैली पर अलग विचार किया गया है, इसलिए दृश्य-काव्य और गद्य-काव्य के विवेचन में उस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। अतः अब हम नाटक के छठे तत्त्व उद्देश्य को लेते हैं।

उद्देश्य

उपन्यास की भाँति नाटक के उद्देश्य से भी हमारा तात्पर्य जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना से है। यहाँ हम पहले यह बतलाना चाहते हैं कि नाटकों के द्वारा जीवन की व्याख्या किस प्रकार होती है और तब नाटक के उद्देश्यों के संबंध में दो एक विशेष बातें बतलाने का उद्योग करेंगे।

उपन्यास-लेखक तो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से जीवन की व्याख्या करता है, पर नाटककार केवल प्रत्यक्ष रूप से ही यह काम कर सकता है। एक विद्वान् का मत है कि उपन्यास

जीवन की सबसे अधिक विस्तृत व्याख्या है। इसके विपरीत नाटक का यह क्षेत्र बहुत ही संकुचित है, क्योंकि इसमें नाटककार को स्वयं कुछ भी कहने का अधिकार नहीं होता। उपन्यासकार तो जीवन की व्याख्या करने का सब काम स्वयं करता है, पर नाटक में जीवन की व्याख्या समझने का सारा भार पाठकों या दर्शकों के ऊपर आ पड़ता है। नाटक में नाटककार स्वयं कभी हमारे सामने नहीं आता, वरन् किसी न किसी पात्र के रूप में आता है; और उस दशा में स्वयं दर्शकों को ही उसका अभिप्राय और उद्देश्य समझना पड़ता है। कोई पात्र जितनी बातें कहता या जितने विचार प्रकट करता है, उन सबके लिए नाटककार ही उत्तरदायी माना जाता है। इसलिए नाटक के समस्त पात्रों के कथनों का आपस में मिलान करके और उनका ठीक ठीक अभिप्राय समझकर नाटक के उद्देश्य का निर्णय किया जाता है। यदि हम किसी एक ही पात्र के किसी एक ही कथन को लेकर यह बतलाना चाहें कि अमुक नाटक का उद्देश्य यह है, तो बहुत संभव है कि हमारा निश्चित किया हुआ सिद्धांत-भ्रमपूर्ण सिद्ध हो। पर हाँ, किसी किसी पात्र के उद्गार अवश्य ऐसे होते हैं जो वास्तव में नाटककार के हृदय से ही निकले हुए होते हैं। बस ऐसे ही उद्गारों को चुनकर हमें किसी नाटक का उद्देश्य स्थिर करना चाहिए। नाटक के जिन पात्रों के साथ हमारी सहानुभूति हो, उनके उद्गारों की तुलना ऐसे पात्रों के उद्गारों के साथ करनी चाहिए जिनके साथ हमारी सहानुभूति न हो; और तब फिर हमें

नाटक का उद्देश्य स्थिर करने में कोई कठिनता न होगी। जिन पात्रों के साथ हमारी कुछ भी सहानुभूति नहीं होती उनके उद्गार भी कभी कभी हमें अप्रत्यक्ष रूप से नाटक का उद्देश्य और जीवन की व्याख्या समझने में सहायता देते हैं। इसी लिए हमने ऊपर कहा है कि हमें सारे नाटक पर एक साथ विचार करके नाटक का उद्देश्य या नैतिक महत्त्व समझना चाहिए। रंगमंच पर हमें जो सृष्टि दिखाई देती है उसका स्रष्टा नाटककार ही होता है; इसलिए उस सृष्टि में नाटककार के भावों, विचारों और आदर्शों आदि का होना बहुत ही स्वाभाविक और अनिवार्य है। उसकी रची हुई उसी सृष्टि से हमें इस बात का पता चलता है कि वह संसार को किस दृष्टि से देखता है, उसका क्या अर्थ समझता है और नैतिक आदर्शों को कहाँ तक महत्त्व देता है। जीवन का जो कुछ अर्थ उसकी समझ में आता है उसे वह, अपनी उस कृति के द्वारा, लोगों को समझाने का प्रयत्न करता है। इसलिए नाटकों की सभी बातों का ठीक ठीक विश्लेषण करके उसका उद्देश्य या अभिप्राय स्थिर किया जाता है। यहाँ प्रसंग-वश हम यह भी कह देना चाहते हैं कि इस दृष्टि से भारत के प्राचीन नाटक बहुत उच्च कोटि के माने जाते हैं; क्योंकि उनमें सबसे अधिक जोर जीवन की व्याख्या पर ही दिया जाता है और सर्वश्रेष्ठ नैतिक आदर्श ही उपस्थित किये जाते हैं।

अँगरेजी के सुप्रसिद्ध कवि शेली ने एक अवसर पर कहा है—"काव्य का समाज के कल्याण के साथ जो संबंध है, वह

बहुधा आधुनिक नाटकीय कहानियों का मूल तत्त्व किसी न किसी प्रकार का विरोध हुआ करता है। नाटक में दो विरोधी भाव, पक्ष, सिद्धांत या दल आदि दिखलाये जाते हैं; और उन्हीं दोनों के विरोध के साथ साथ कथा-वस्तु का विकास होता चलता है। साधारण नाटकों में यह विरोध प्रायः व्यक्तिगत रूप में ही सामने आता है। किसी महात्मा या दुरात्मा या किसी सच्चे वीर और दुष्ट बलवान् का विरोध और अंत में उस महात्मा या वीर आदि की विजय का दृश्य ही अधिकांश नाटकों में दिखाया जाता है, पर अच्छे नाटकों में यह विरोध और भी अनेक रूपों में दिखलाया जा सकता है। किसी वीर को अपने दुर्भाग्य अथवा विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है; और किसी विचारवान् को स्वयं अपने ही तामस भावों का दमन करना पड़ता है। तात्पर्य यह कि प्रायः किसी न किसी प्रकार का विरोध या विपरीतता ही नाटक का मूल आधार होती है। नाटक में जहाँ से यह विरोध या संघर्ष आरंभ होता है मानों वहाँ से मुख्य कथा-वस्तु का भी आरंभ और जहाँ इस विरोध या संघर्ष का कोई परिणाम निकलता है वहीं मानों कथा-वस्तु का अंत हो जाता है। जब कथा-वस्तु का आरंभ और अंत निश्चित हो गया, तब हम सहज में कह सकते हैं कि इन दोनों स्थानों के मध्य में कथावस्तु का विकास किस ढंग से होता है। कथा-वस्तु के आरंभ से जो संघर्ष या विरोध उत्पन्न होता

नाटक-रचना के सिद्धांत

है, वह पहले एक निश्चित सीमा तक बढ़ता जाता है; और उस सीमा के उपरांत किसी एक पक्ष या दल की जीत आरंभ होने लगती है, और तब अंत में सत् को असत् पर अथवा असत् को सत् पर विजय प्राप्त होती है। बीच में कभी कभी विजय पानेवाला दब भी सकता है, पर फिर भी उसकी विजय-प्राप्ति में कोई बाधा नहीं पड़ती। इसलिए आधुनिक पाश्चात्य साहित्यकारों ने नाटक को पाँच भागों में विभक्त किया है—पहला आरंभ, जिसमें विरोध उत्पन्न करनेवाली कुछ घटनाएँ होती हैं; दूसरा विकास, जिसमें विरोध और झगड़े बढ़ते हैं; तीसरा चरम सीमा, जहाँ से किसी एक पक्ष की विजय का आरंभ होता है; चौथा उतार या निगति, जिसमें विजयी दल की विजय निश्चित हो जाती है और पाँचवाँ अंत या समाप्ति, जिसमें उस विरोध या झगड़े का अंत हो जाता है। पर हमारे यहाँ के आचार्यों का मत इससे कुछ भिन्न है। विरोध और झगड़े आजकल की सभ्यता के परिणाम हैं, अथवा कम से कम इनका विकास और वृद्धि आजकल की सभ्यता में हुई है। प्राचीन भारत में भी झगड़े थे, पर वे इतने अधिक और प्रत्यक्ष नहीं थे कि रंगशालाओं पर उनके अभिनय की आवश्यकता होती। हमारे यहाँ के प्राचीन नाटक तो केवल धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के उद्देश्य से रचे, खेले और देखे जाते थे। इसलिए हमारे यहाँ कथा-वस्तु के विभाग भी कुछ और ही ढंग से किये गये हैं। हमारे यहाँ भी कथा-वस्तु या रूपक के आरंभ, प्रयत्न, प्रत्याशा,

नियताप्ति और फलागम ये पाँच ही विभाग किये गये हैं। इन पाँचों विभागों की ऊपर बताये हुए पाँचों विभागों के साथ तुलना की जा सकती है और दोनों में कुछ सामंजस्य भी स्थापित किया जा सकता है। हमारे यहाँ के आचार्यों के अनुसार किसी प्रकार का फल प्राप्त करने की उत्कंठा होती है और उसी उत्कंठा से नाटक का आरंभ होता है। उस फल की प्राप्ति के लिए जो व्यापार होता है वह प्रयत्न कहलाता है। आगे चलकर उस फल की प्राप्ति की आशा होने लगती है जिसे प्रत्याशा कहते हैं। इसके उपरांत विघ्नों का नाश हो जाता है और फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है जिसे नियताप्ति कहते हैं, और सबके अंत में फल-प्राप्ति होती है जो फलागम कहलाती है। इससे सिद्ध है कि हमारे यहाँ के नाटकों में विरोध भाव को कभी प्रधानता नहीं दी जाती थी और उनमें केवल उद्योग और सफलता का ही महत्त्व प्रतिपादित होता था। तो भी यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो इन दोनों प्रकार के विभागों में, इस विरोधवाले तत्त्व को छोड़कर, और कोई विशेष अंतर नहीं है। शेष बीच की तीनों अवस्थाओं में भी कोई विशेष अंतर नहीं है। एक में झगड़े का विकास होता है, दूसरे में फल-सिद्धि के लिए यत्न होता है; एक में विजय का निश्चय आरंभ होने लगता है और दूसरे में फल-प्राप्ति का; एक में विजय निश्चित होती है और दूसरे में फल-प्राप्ति। यदि दोनों में कोई मुख्य अंतर है तो वह यह कि पाश्चात्य विद्वानों ने विरोध या संघर्ष को प्रधानता देकर अपने विषय की सीमा बहुत

संकुचित कर दी है; और हमारे यहाँ के आचार्यों ने अपना क्षेत्र बहुत विस्तृत रखा है। हमारे विभाग और विवेचन के अंतर्गत उनके विभाग और विवेचन सहज में आ सकते हैं, पर उनके संकुचित विवेचन में हमारे विस्तृत विवेचन के लिए स्थान नहीं है।

ये तो कार्य या व्यापार-शृंखला की पाँच अवस्थाएँ हुईं। इनके अतिरिक्त हमारे शास्त्रियों ने दो बातों पर और विवेचन किया है—एक अर्थ-प्रकृति और दूसरी संधि। अर्थ-प्रकृति से तात्पर्य कथा-वस्तु को प्रधान फल की प्राप्ति की ओर अग्रसर करनेवाले चमत्कार युक्त अंशों से है। इनके पाँच भेद किये गये हैं—बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी और कार्य। बीज मुख्य फल का हेतु वह कथा-भाग है जो क्रमशः विकसित होता जाता है, बिंदु वह बात है जो निमित्त बनकर समाप्त होनेवाली अवांतर कथा को आगे बढ़ाती है और प्रधान कथा को अविच्छिन्न रखती है। प्रासंगिक कथा के दो उपभेद हैं। पताका में कथा बराबर चलती रहती है और प्रकरी में वह थोड़े काल तक चलकर रुक जाती है या समाप्त हो जाती है। कार्य से तात्पर्य उस घटना से है जिसके लिए सब उपायों का आरंभ किया जाय और जिसकी सिद्धि के लिए सब सामग्री इकट्ठी की गई है। इस प्रकार ये पाँचों बातें वस्तु-विन्यास से संबंध रखती हैं।

अर्थ-प्रकृति

कथात्मक पूर्वोक्त पाँच अवस्थाओं के योग से अर्थ-प्रकृतियों के रूप में विस्तारी कथानक के पाँच अंश हो जाते हैं। एक ही प्रधान प्रयोजन के साधक उन कथानकों का मध्यवर्ती किसी एक प्रयोजन के साथ संबंध होने को संधि कहते हैं। ये भी पाँच होती हैं—(क) मुख संधि—प्रारंभ नामक अवस्था के साथ संयोग होने से जहाँ अनेक अर्थों और रसों के व्यंजक 'बीज' अर्थ-प्रकृति की उत्पत्ति हो वह 'मुख संधि' है। अवस्थाएँ तो कार्य अर्थात् व्यापार-शृंखला की भिन्न भिन्न स्थितियों की द्योतक हैं, अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तुओं के तत्त्वों की सूचक हैं और संधियाँ नाटक-रचना के विभागों का निदर्शन करती हैं। (ख) प्रतिमुख संधि—मुख संधि में दिखलाये हुए बीज का जिसमें कुछ लक्ष्य और अलक्ष्य रीति से उद्भेद हो, अर्थात् नाटकीय प्रधान फल का साधक इतिवृत्त कभी गुप्त और कभी स्पष्ट हो, उसे 'प्रतिमुख संधि' कहते हैं। (ग) गर्भ संधि—इसमें प्रतिमुख संधि में किंचित् प्रकाशित हुए बीज का बार बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। (घ) अवमर्श या विमर्श संधि—गर्भ संधि की अपेक्षा बीज का अधिक विस्तार होने पर उसके फलोन्मुख होने में जब शाप, क्रोध, विपत्ति या विलोभन के कारण विघ्न उपस्थित होते हैं तब विमर्श या अवमर्श संधि होती है। (ङ) निर्वहण संधि—इसमें पूर्वकथित चारों संधियों में यथा-स्थान वर्णित अर्थों का प्रधान प्रयोजन-सिद्धि के लिए समाहार

संधि

हो जाता है और मुख्य फल की प्राप्ति भी हो जाती है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि अवस्था, अर्थ-प्रकृति और संधि का प्रयोग भिन्न भिन्न विचारों से किया जाता है, तथापि तीनों के पाँच पाँच भेद होते हैं और वे एक दूसरे के सहायक या अनुकूल होते हैं। अर्थ-प्रकृतियाँ वस्तु के तत्त्वों से, अवस्थाएँ कार्य-व्यापार से और संधियाँ रूपक-रचना के विभागों से संबंध रखती हैं।

दर्शकों की उत्सुकता बढ़ाने और अंत में उनको चकित करने के लिए नाटककार कभी कभी अपने नाटक में किसी गुप्त भेद या रहस्य को भी स्थान देते हैं। वे पात्रों, घटनाओं और उद्देश्यों आदि के संबंध में पहले तो कुछ बातें छिपा रखते हैं और तब किसी उपयुक्त अवसर पर उन बातों को प्रकट करके दर्शकों को चकित कर देते हैं। इससे यह लाभ होता है कि आदि से अंत तक दर्शकों की उत्सुकता बनी रहती है और वे बड़े ध्यान से सब बातें समझने का उद्योग करते हैं। पर नाटक में इस प्रकार कोई गुप्त भेद या रहस्य छिपा रखने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं दर्शकों को धोखा न हो जाय और वे भटककर कथावस्तु से दूर न जा पड़ें।

हमारे यहाँ के आचार्यों ने केवल नाटकों के काम के लिए नायक और नायिकाओं के अनेक भेद किये हैं और वृत्तियाँ, अलंकार तथा लक्षण आदि भी अलग नियत किये हैं। उन्होंने यह भी बतलाया है कि किन पात्रों को किन भाषाओं का प्रयोग

करना चाहिए और किसे किस प्रकार संबोधन करना चाहिए। हमारे यहाँ यह भी निर्णय किया गया है कि कौन कौन से दृश्य रंगशाला में नहीं दिखलाने चाहिएँ, जैसे लंबी यात्रा, हत्या, युद्ध, राज्यक्रांति, क़िलों आदि का घिराव, भोजन, स्नान, संभोग, नायक या नायिका आदि की मृत्यु इत्यादि। इन सबका पूरा पूरा विवरण जानने के लिए लक्षण ग्रंथों का सहारा लेना चाहिए; क्योंकि इस प्रकार की बातें बताना हमारे उद्देश्य के बाहर है। अंत में इतना ही कहना हम यथेष्ट समझते हैं कि नाटक लिखना सहज नहीं है और इसके लिए बहुत कुछ विद्या, बुद्धि, ज्ञान तथा रचना-कौशल की आवश्यकता होती है।

[ख—श्रव्य काव्य]

१—उपन्यास

साहित्य में उपन्यास का स्थान

रूपक अथवा नाटक की भाँति उपन्यास की कोई शास्त्रीय मर्यादा नहीं है। वह सामान्य रूप से श्रव्य काव्य के अंतर्गत गिना जाता है। परंतु पाश्चात्य साहित्य में श्रव्य-काव्य के इस अंग की इतनी अधिक उन्नति हुई है और पश्चिम की प्रणाली पर भारतीय देश-भाषाओं में भी इसका इतना अधिक प्रसार हो गया है कि अब यह काव्य-साहित्य में स्वतंत्र रूप से अपना अस्तित्व दृढ़ कर चुका है और अपनी एक अलग कोटि बना चुका है। इस कोटि में साधारणतः कल्पना-प्रसूत

वह संपूर्ण कथा-साहित्य आ जाता है जो गद्य की रीति से व्यक्त किया गया हो। इस पर ध्यान देते ही प्रकट होता है कि यह एक ओर तो वास्तविक जीवन-चरित से—चाहे वह पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा सामयिक व्यक्तियों का हो—भिन्नता रखता है और दूसरी ओर पद्य की प्रणाली का परित्याग कर कविता की सूक्ष्म परिधि में पदार्पण नहीं करता। इस दृष्टि से इसका मध्य मार्ग मानना चाहिए। वास्तविक जीवनचरित में घटनाओं और तिथियों का जो विशिष्ट क्रम स्वीकार करना पड़ता है उसके कारण उसमें वास्तविक जीवन की अनुकूलता भले ही देख पड़े, पर काव्य की नैसर्गिक पूर्णता प्राप्त करना उसके लिए कठिन है। जीवनचरित देश और काल के अभेद्य बंधन से बद्ध होकर कला की स्वतंत्र सत्ता से अलग जा पड़ता है। वह एक प्रकार से साहित्य और विज्ञान के बीच की वस्तु है। उपन्यास में वैसा कोई बंधन न रहने के कारण उसमें व्यक्तियों, वस्तुओं और व्यापारों को अधिक सुंदर मूर्तिमत्ता प्राप्त हो सकती है और उपन्यासकार कल्पना के रंग में रँगकर अपनी कथा अधिक रोचक बना सकता है। परंतु है वह कथा ही और कथा में कुछ व्यक्ति, कुछ वस्तु-व्यापार, किसी विशेष क्रम से करने के लिए बाध्य होते हैं। आरंभ में उपन्यासकार को यह स्वतंत्रता तो रहती है कि वह अपने मनोनुकूल, कला के सुविधानुसार, काल्पनिक कथा का निर्माण करे; परंतु जब वह उस कथा के साथ आगे बढ़ता है तब अनिवार्य

रूप से घटना, परिस्थिति-चक्र और व्यापारों की एक शृंखला बना लेता है और मनुष्य-जीवन की सभी वास्तविकताएँ उस पर अपना अधिकार जमा लेती हैं। तब वह स्वतंत्र नहीं रह जाता, अपनी ही निर्माण की हुई औपन्यासिक सृष्टि के नियंत्रण में आ जाता है। उपन्यास के पात्र सजीव होकर अपनी जीवन-यात्रा की ओर चल पड़ते हैं और उपन्यासकार उनके मार्ग में कोई बाधा नहीं उपस्थित कर सकता। केवल नियति का वेग, समाज का प्रभाव या समय का परिवर्तन अंकित करके ही वह अपने पात्रों पर कुछ शासन रख सकता है। नहीं तो जिस भाँति सब मनुष्य उसी भाँति उपन्यास के मनुष्य भी अपने अपने स्वभाव के अनुसार क्रियाएँ करते हैं। उनमें मनुष्यता का पूरा प्रतिबिंब न दिखाई दे तो उपन्यास की कला सफल नहीं हो सकती। अतः उपन्यासकार मनुष्यता का मापदंड लेकर चलता है। उपन्यास का यही प्रतिबिंब जहाँ एक ओर उसकी सीमा बाँध देता है वहाँ दूसरी ओर उसे एक विशेष कोटिकक्षा भी प्रदान करता है। उपन्यास की सीमा यही है कि उसमें कुछ व्यक्तियों के साथ कुछ घटनाएँ किसी क्रम से घटित होंगी और इस समस्त व्यापार में हमारे नित्यप्रति के जीवन की सी वास्तविकता देख पड़ेगी। यह सीमा काव्य अथवा कविता की सीमा से संकीर्ण होती हुई भी उससे पृथक् है। कविता में घटनाएँ और पात्र केवल काल्पनिक संकेतों का काम भी दे सकते हैं और वे किसी निश्चित क्रम तक साथ नहीं भी रखे जा सकते। ऐसी भी कविता हो सकती है जिसमें व्यक्ति

या वस्तु का नितांत अभाव हो और केवल एक भावना या उच्छ्वास अथवा एक प्राकृतिक दृश्य मात्र अंकित कर दिया जाय। सारांश यह कि कविता मनुष्य की कल्पना-शक्ति का अधिक आश्रय लेकर, संगीत की मूर्छना के से प्रयोग द्वारा हमारी बौद्धिक वृत्ति को शांत कर देती है और विश्वास का आविर्भाव कराती है। विश्वास कल्पना का ही दूसरा नाम है। कवि अपनी कल्पना द्वारा जो रचना करता है, हम अपने विश्वास द्वारा उसकी सत्यता के साक्षी होते हैं। उपन्यास की जिस वास्तविकता का ऊपर हम उल्लेख कर चुके हैं उसकी पृष्ठपोषकता के लिए भी विश्वास की आवश्यकता है, परंतु वह विश्वास दूसरी कोटि का है। उपन्यास की घटनाएँ मानव-जीवन का प्रतिरूप खड़ा करने का बीड़ा उठाती हैं। इसलिए हम उपन्यास पढ़ते हुए प्रश्न करते हैं कि ये घटनाएँ इसी रूप में कैसे घटित हुईं। यदि हम उनके घटित होने पर विश्वास करते हैं तो इस अवस्था में भी हमारी बुद्धि विशेष रूप से जागरित रहती है। कविता पढ़ने पर हमारा प्रश्न यह होता है कि क्या यह चित्र सत्य हो सकता है? काव्य के प्रभाव से हम ऐसी मानसिक स्थिति में होते हैं कि उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं, क्यों नहीं हो सकता। यह स्पष्ट ही विश्वासप्रधान उत्तर है। इसे यदि दार्शनिक शब्दावली में कहें तो यह आस्तिकता का द्योतक है। कवि-कल्पना के प्रति हमारा विश्वास आस्तिक-कोटि का होता है। उपन्यास-लेखक की कृति

के प्रति हमारे विश्वास में संशय प्रबल रहता है, उसे नास्तिकता का द्योतक कह सकते हैं। उपन्यास पढ़कर हम यह नहीं स्वीकार करते कि ऐसा हो सकता है। प्रत्येक बार हमारा यही प्रश्न होता है कि ऐसा कैसे हुआ। उपन्यास और कविता का यही भेद उनके संबंध का निरूपण करता है।

इस प्रकार उपन्यास के एक ओर जीवनी और दूसरी ओर कविता है। इन्हें उपन्यास के दो छोर भी कह सकते हैं। कभी कभी उपन्यास अपनी इस बीच की स्थिति का त्याग कर एक या दूसरे छोर की ओर बढ़ जाता है और तब वह उपन्यास संज्ञा का अधिकारी नहीं रहता। जैसे नदियाँ अपना नाम-रूप तब तक प्रकट रखती हैं जब तक वे दूसरी नदियों से संगम नहीं करतीं, वैसे ही उपन्यास भी अपनी सीमा में रहकर ही अपने नाम-रूप की रक्षा कर सकता है। यद्यपि ऐसे भी उपन्यास हैं जो किसी के जीवनवृत्त के संकलन या किसी युग के विशेष भावों के संग्रह मात्र होकर ही रह गये हैं और उनमें कल्पना का पुट अत्यंत क्षीण होने के कारण वास्तविक औपन्यासिकता नहीं आ पाई। मनुष्यों के हृदय उन्हें पढ़कर स्पंदित नहीं होते; क्योंकि उनमें मानव-मन के अंतरंग का स्पर्श नहीं हो सका, केवल घटनाओं का घटाटोप अथवा युग-विशेष की विचित्रताओं का समावेश देख पड़ता है। इसी प्रकार कुछ उपन्यास ऐसे भी हैं जो कविता की प्रणाली से व्यक्त किये गये हैं। इनमें अधिकांश प्रेममूलक आख्यान हैं जिनमें आश्चर्यप्रद काल्पनिक घटनाएँ

अधिक मात्रा में सन्निहित रहती हैं। पद्य द्वारा प्रकट किये जाने पर ये अँगरेज़ी में 'रोमांस' काव्य कहलाते हैं। यहाँ भी उपन्यास अपने प्रकृत क्षेत्र से बाहर चला जाता है और हमारी किसी गहन अभिलाषा का समाधान न कर केवल कपोल-कल्पनाएँ जागरित करता है। इन प्रेममूलक आख्यानों में वीरत्व तथा नारी-समादर की भावनाएँ प्रबल रहती हैं, परंतु उनका संघटन घटना-परंपरा के ही द्वारा होता है। अतः इनमें न तो काव्य की घटना-विरहित सुषमा प्रवेश कर पाती है और न उपन्यास के सच्चे मनुष्य-चरित्र तथा उनके वास्तविक सुख-दुःख की मार्मिक अनुभूतियाँ प्रदर्शित की जाती हैं। अतएव हम देखते हैं कि उपन्यास की कला अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन तथा उत्कर्ष की सिद्धि अपनी परिधि के बाहर जाकर नहीं कर सकती। वह अपनी ही सीमा में रहकर अपनी असीम सफलता प्राप्त कर सकती है।

उपन्यास और छोटी कहानी या 'गल्प'

उपन्यास की परिधि का निरूपण हम ऊपर कर चुके और अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि उस परिधि के अंतर्गत उसकी कला किन किन प्रमुख दिशाओं में उन्मुख हुई है, अर्थात् उपन्यास के प्रधान विभाग कौन कौन हैं। परंतु इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व हमारा ध्यान उपन्यास की ही एक संतान की ओर चला जाता है जो अब अपने पिता से पृथक् है। यह बालिका, जो 'गल्प' कहलाती है, उपन्यास

को ही औरस-जात है, किंतु कुछ समय से यह अपने पितृगृह में निवास नहीं करती। इसने नवीन कुल की मर्यादा ग्रहण कर ली है। यद्यपि उपन्यास और गल्प दोनों ही मनुष्य-जीवन की आनुषंगिक कथा को कल्पना के रंग में रंजित कर गद्य में व्यक्त करते हैं, और इस दृष्टि से दोनों का आधार तथा प्रणाली एक ही है, तथापि इन दोनों की सत्ता विभिन्न समझी जाने लगी है। इन दोनों में केवल आकार का भेद नहीं माना जाता वरन् इनके रूप-रंग भी भिन्न भिन्न हो गये हैं। कुछ विद्वान् तो इस 'गल्प' बालिका के शोभाशाली विकास से इतने चकित हो गये हैं कि ये इसे एक स्वतंत्र सृष्टि मानने लगे हैं। परंतु यदि हम पाश्चात्य साहित्य का इतिहास देखें—क्योंकि वहीं इन दोनों का आधुनिक विकास हुआ है—तो समझ सकते हैं कि गल्प का नवीन आविष्कार अमेरिका के कहानी-लेखक हाथवे और पो के ही किये नहीं हुआ; इसके आविर्भावक प्रसिद्ध उपन्यासकार स्काट, डिकेंस आदि हो गये हैं। इससे हम उपन्यास और गल्प के सान्निध्य संपर्क का अधिक अनुभव कर सकते हैं। यह अवश्य है कि अमेरिका के उपर्युक्त लेखकों ने स्काट, डिकेंस आदि की कहानी का अधिक विकास कर उसे एक स्वतंत्र कला-कोटि में ला रखा है, परंतु मूल में ये फिर भी भिन्न नहीं हैं। आगे चलकर 'गल्प' या छोटी कहानी केवल एक प्रसंग को लेकर उसकी एक मार्मिक झलक दिखा देने का ही उद्देश्य रखने लगी जिससे वह उपन्यास

के कथा-भार से नितांत मुक्त हो गई। वह जीवन का समय-सापेक्ष चतुर्दिक् चित्र न अंकित कर केवल एक क्षण में घनीभूत जीवन-दृश्य दिखाने लगी, जिसके कारण वह उपन्यास की कोटि से स्वतंत्र हो गई। इन दिनों की गल्प या कहानी यद्यपि आकार में छोटे उपन्यास से बड़ी भी हो तो भी उसकी गणना अलग ही की जायगी। इसका कारण यही है कि 'गल्प' या कहानी की कला दूसरे उपकरणों को लेकर अपना अंग सजाने लगी है। उन उपकरणों को 'गल्प' के उपकरण मानकर उन्हें उपन्यास के उपकरणों से पृथक् रखना होगा और आगे के पृष्ठों में उपन्यास के प्रधान विभागों का प्रदर्शन करते हुए हमें ध्यान में रखना होगा कि हम उसकी परिधि को 'गल्प' के वृत्त से स्पष्टतः अलग रखें, जिसमें साहित्य के ये दोनों कुटुंबी—जो पिता-पुत्री का संबंध रखते हैं—व्यवहार के अनुसार बरतें और उपन्यास अपनी विवाहिता, अन्यकुल-प्रविष्टा, पुत्री का धान्य न स्वीकार करे। सारांश यह कि उपन्यास जैसे एक ओर जीवनचरित और दूसरी ओर कविता के सीमा-बंधों से सीमित है वैसे ही वह 'गल्प' के नवीन गृह में भी पदार्पण नहीं कर सकता। इन प्रतिबंधों का विचार कर अब हम उपन्यास की प्रमुख रूप-रचना, अंग-संघटन अथवा उसके प्रधान विभागों की ओर दृष्टिपात करेंगे।

यह तो हम आरंभ में ही कह चुके हैं कि उपन्यास के अंतर्गत वह संपूर्ण कथा-साहित्य आ जाता है जो गद्य की प्रणाली से

व्यक्त किया गया हो। हमने यह भी उल्लेख किया है कि उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन से घनिष्ठ संबंध रखता है और वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसी की कथा कहता है। यदि हम ऊपर की पंक्तियों का निष्कर्ष निकालकर उपन्यास की व्याख्या करें और कहें कि उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है तो यह अधिक असंगत न होगा। इस व्याख्या पर अब ध्यान देना चाहिए। अवश्य ही इस संपूर्ण व्याख्या में 'कथा' शब्द ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उपन्यास के मूल में कथा है। वह कथा काल्पनिक है। ऊपर हम ऐतिहासिक वृत्त या जीवन-चरित से इस काल्पनिक कथा का अंतर प्रकट कर चुके हैं, अतः किसी को इस भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं है कि काल्पनिक कथा का अर्थ असत्य कथा है। काल्पनिक कथा का अर्थ उस कथा से है जो कल्पना की सहायता से अधिक मार्मिक, सुचरित और ग्राह्य बना दी गई हो, जिसमें सुंदर चयन-शक्ति की सहायता से जीवन के किसी उद्दिष्ट अंश की यथारुचि रूप-रेखा अंकित की गई हो, जिसमें अनावश्यक अंश एक भी न हो और अपनी ही पूर्णता में आकाश के चंद्रमा की भाँति चमक उठे। ऐसी काल्पनिक कथा में असत्य का अंश चंद्रमा की कालिमा की भाँति प्रकाश में लुप्त हो जाता है। किसी व्यक्ति की जीवनी यदि सत्य और वास्तविकता का ध्यान रखकर लिखी जाय तो केवल एक सूची मात्र बन सकेगी। इसका कारण यही है कि उसमें

उपन्यास के कोटि-क्रम

अनावश्यक और निरर्थक घटनाएँ अस्त-व्यस्त होकर फैली हुई हैं। यह सूची केवल बाह्य अर्थ में सत्य कही जा सकती है, पर साहित्य का संबंध उस प्रकार के सत्य से नहीं के बराबर है। इसी लिए उपन्यासकार बाह्य सत्य की चिंता न कर काल्पनिक कथा का निर्माण करता और उसमें वास्तविक जीवन का सत्य निहित करना चाहता है।

(१) वास्तविक हो या काल्पनिक, कथा में कुछ घटनाएँ अवश्य होंगी और वे किसी विशेष क्रम से घटित होंगी। प्रत्येक उपन्यास में घटनाएँ किसी क्रम से अवश्य घटित होती हैं। इन्हें हम उपन्यास की कथावस्तु कहते हैं। यदि भिन्न भिन्न उपन्यासों की कथा-वस्तु का अध्ययन किया जाय तो उसके कतिपय प्रमुख भेदों का परिचय मिल सकता है। सबसे सरल अथवा निम्न कोटि की कथा-वस्तु वह है जो कुछ आश्चर्यजनक घटनाओं का ताँता बाँधकर पाठकों के कौतूहल को आरंभ से अंत तक जगाती रहे। मनुष्यों की आदिम कहानियों का इसे साहित्यिक रूप समझना चाहिए। घरों में बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ बच्चों को जिस प्रकार की कहानियाँ सुनाती हुई 'फिर क्या हुआ', 'फिर क्या हुआ', की जिज्ञासा का उत्तर देती स्वयं थक जाती हैं और बच्चे भी सो रहते हैं, वे अधिकांश में ऐसी ही होती हैं। ये कहानियाँ घटनाप्रधान होती हैं और घटनाएँ विस्मयकारिणी होती हैं। इनकी निश्छल सरलता ही एकमात्र कला है।

हृदय में कौतूहल उत्पन्न कर देनेवाला कौशल यद्यपि स्वतः अधिक प्रयोजनीय नहीं समझा जाता, परंतु इस कौशल की सहायता लेकर कतिपय श्रेष्ठ उपन्यासों की रचना भी हुई है। कौतूहल वहाँ केवल साधन का कार्य करता है जिसके द्वारा औपन्यासिक किन्हीं महत्त्वपूर्ण रहस्यों को पाठकों तक प्रभाव-शाली रीति से पहुँचा देते हैं। ऐसी कथाएँ हास्य-विनोद-मयी तो होती ही हैं, इसलिए उनमें निहित तत्त्व बड़ी ही रोचक विधि से ग्रहण किये जाते हैं। वे कथाएँ अधिकांश में अन्योक्ति या रहस्य-कथन का मर्म लिये हुए होती हैं जैसे कि अँगरेजी की प्रसिद्ध 'गुलिवर्स ट्रावेल्स', 'डान क्विक्जट' आदि कथाएँ।

किंतु जहाँ कौतूहल ही एकमात्र उद्देश्य रहता है वहाँ उपन्यास अधिक उत्कर्ष नहीं प्राप्त करता। हाँ, यदि कौतूहल का सृजन करनेवाली उपन्यास की घटनावली अधिक नियमित की जाय, कार्य-कारण-संबंध से अधिक पुष्ट होकर वह उपस्थित हो और पाठकों के हृदय में प्रतीक्षा, आशा, आशंका, भय आदि संवेदनात्मक भावों को भी उदित करे तो उपन्यासकार अधिक सफल कहला सकता है। हिंदी का प्रसिद्ध चंद्रकांता उपन्यास यद्यपि मुख्य रूप से कौतूहल की सृष्टि करता है, किंतु उपर्युक्त संवेदनात्मक भाव भी उसे पढ़कर उदित और अस्त होते रहते हैं। कथित उपन्यास की प्रेमी-प्रेमिकाओं की योजना और उनकी प्रेम-संबंधी चर्चाएँ कौतूहल से कुछ आगे बढ़कर हृदय को स्पर्श करती हैं।

(२) उपन्यास की कथा-वस्तु जब और अधिक संयम के साथ, विशेष आशय लिये हुए, नियोजित होती है और विरलता की भूमि से खिचकर सामूहिक जीवन के क्षेत्र में आने लगती है तब दूसरे प्रकार की औपन्यासिक सृष्टि आरंभ होती है। यहाँ आकर कथानक का रूप इस प्रकार बदल जाता है जैसे पर्वत की पतली नदी समतल पर आकर चौड़ी हो जाय और अधिक धीमी चाल से बहने लगे। जैसे समतल की सरिता अधिक उपयोगिनी बनकर तट की नर-नारी, पशु-पक्षी सृष्टि के लिए ही अपने को समर्पित कर दे, वैसे ही इन उपन्यासों का कथानक समाज के नर-नारियों के क्रिया-कलाप और पारस्परिक व्यवहार के ही अधिक काम आता है। ऐसे उपन्यासों को सामाजिक, चरित-संबंधी अथवा व्यवहार-विषयक कह सकते हैं। इस शैली के अधिकांश उपन्यासों का आकर्षण कथानक से हटकर पात्रों, उनके पारस्परिक व्यवहारों तथा उस समाज की रीति-नीति में केंद्रित हो जाता है जिसके वे पात्र हैं। इन उपन्यासों के पात्र भिन्न भिन्न परिस्थितियों में पड़कर तथा नवीन व्यक्तियों के संसर्ग में आकर जिस भाँति आचरण करते हैं वही मनोरंजन का विषय बनता है। इससे स्पष्ट ही है कि ऐसे उपन्यासों का क्षेत्र विस्तृत और समाज-व्यापी होता है और इस विस्तार के ही भिन्न रंग-रूपों से सज्जित होकर वे हमारी आँखों के सामने आते हैं। परिस्थितियों की रमणीय योजना जिससे उपन्यास के पात्र स्वाभाविकता का निर्वाह करते हुए

अधिक से अधिक सामाजिक अंगों को स्पर्श कर सकें यही इस कोटि के उपन्यासों की मुख्य कला होती है। संस्कृत का 'दशकुमारचरित' उपन्यास अपने देश के साहित्य में इस प्रकार की प्रसिद्ध रचना है।

यों तो प्रत्येक उपन्यास में किसी देश अथवा काल का प्रसंग रहता ही है, परंतु उपन्यासकार अपने विषय के अनुरूप कभी एक को और कभी दूसरे को प्रधानता देते हैं। वे प्रमुख रूप से एक का व्यवहार कर दूसरे को आप से आप ध्वनित होने को छोड़ देते हैं। इन सामाजिक व्यवहार-संबंधी उपन्यासों का निर्माण करते हुए रचनाकार का ध्यान परिस्थितियों की योजना पर अधिक रहता है। समय की कल्पना या तो उसके मस्तिष्क में उदित ही नहीं होती या वह उसे स्वतःसिद्ध समझकर अनुल्लिखित ही रहने देता है। ऐसे उपन्यास अधिकांश में रचयिता के समसामयिक समाज के चित्र होते हैं अतः समय की छाया उन पर स्वयं ही पड़ी रहती है। यह सत्य है कि किसी भी घटनावली के व्यतीत होने में स्वल्पाधिक समय लगता है, परंतु उन सामाजिक उपन्यासकारों का काम उस पर ध्यान दिये बिना ही चलता रहता है।

(३) काल या समय की गति को ही प्रधानता देने और प्रादेशिक सीमा को संकुचित कर उसे पात्रों के सुख-दुःख से रंजित एक स्मृति-पटल मात्र बना देनेवाले उपन्यासों की तीसरी श्रेणी है। काल के प्रवाह में पड़े हुए व्यक्ति का चित्र अंकित करते हुए ये

उपन्यास मनुष्य-जीवन का नैसर्गिक रूप दिखाने लगते हैं। इन उपन्यासों में व्यक्ति का जीवन चिरंतन मनुष्य-जीवन का प्रतीक अथवा संकेतमात्र बन जाता है। इनमें समय के परिवर्तनशील पटल पर व्यक्तियों के चित्र संपूर्ण आकृति में अंकित हो जाते हैं और हम जिस ओर से चाहें उन्हें देख सकते हैं। उपर्युक्त सामाजिक उपन्यासों में भिन्न भिन्न व्यक्ति एक दूसरे के संपर्क में आकर अपने को व्यक्त करते हैं। उससे उनके व्यवहार की ही विशिष्टता अधिक अंकित होती है और जीवन के सब पहलू देखे जा सकते हैं। अधिकतर सामाजिक उपन्यासों के पात्र आदि से अंत तक एक सा ही स्वभाव लिये रहते हैं और उस स्वभाव के अनेक रंग-रूप परिस्थितियों के पटल को रंजित कर देते हैं। परंतु इन उपन्यासों में व्यक्ति का शरीर, उसकी मन, बुद्धि और आत्मा एक साथ झलक उठती है। मानों जीवन के अपार महासागर से निकलकर ये उपन्यास सरिता-रूप में उसी का जल—सब रसों से युक्त—लेकर बह चले। इन उपन्यासों में घटनाएँ और परिस्थितियाँ आप से आप या विधिवशात् पात्रों के जीवन में आ गई जान पड़ती हैं जिससे इन रचनाओं को कला-संबंधी अद्वितीय पूर्णता प्राप्त हो जाती है। विद्वानों का कथन है कि उपन्यास-कला का पूर्ण परिपाक यहीं आकर होता है। ऐसे उपन्यासों में पात्रों और घटनाओं की संख्या थोड़ी और घटना-स्थल संकीर्ण होता है। इसी संकीर्णता में इन उपन्यासों का तीव्र प्रवाह निहित है। इस विषय में ये उपन्यास नाटकीय समता

के हैं, जो छोटे से रंगस्थल पर खेले जाकर प्रभूत प्रभाव उत्पन्न करते हैं। सुखमय और दुःखमय नाटकों का सम्मिलित रूप इनमें देखा जाता है—संभवतः जीवन का यही सच्चा रूप है। ये उपन्यास भावना की तीव्रता से कविता के भी उपकूलों का स्पर्श करने लगते हैं और कहीं कहीं उत्कृष्ट कवित्व की छटा छा देते हैं।

(४) उपन्यासों की चौथी कोटि वह हो सकती है जिसमें देश और काल दोनों ही समान रूप से ध्यानस्थ रखे जायँ या दोनों ही समान रूप से विस्मृत कर दिये जायँ। देश, काल दोनों का प्रयोग होने पर सब कुछ जैसे जंगम सा प्रतीत होता है और दोनों का बहिष्कार कर 'एकदा' 'एकस्मिन् स्थाने' आदि से आरंभ होनेवाले उपन्यासों में भी अनोखी स्थिरता का प्रभाव होता है। देश-काल-निरपेक्ष उपन्यासों की रचना-भूमि भारतवर्ष और उसके मौलिमुकुट महाकवि बाण की कादंबरी है। कादंबरी की कथा में यद्यपि घटनाएँ सरोवर, तट, राजगृह आदि स्थान-विशेष तथा संध्या, चाँदनी रात, युवावस्था आदि समय-विशेष में घटित होती हैं, परंतु कवि की अपार कवित्वमयी वर्णन-शक्ति से सजीव होकर उन्होंने अपना समय तथा स्थान की संज्ञा छोड़ दी है और उपन्यास के अन्य प्राणियों की भाँति स्वयं प्राणी हो गई हैं। इस उपन्यास में परम अद्भुत वर्णनों के द्वारा वस्तुओं की एक एक क्रिया, भाव की एक एक मुद्रा, इतनी अधिक आकर्षण-संयुक्त हुई है कि श्रेष्ठ उपन्यासों की बड़ी बड़ी घटनाएँ भी उतनी अधिक शक्तिमती न होंगी। इसमें जहाँ कोरे उपदेश

हैं, वहाँ भी पूरी रसमयता है। जहाँ वियोग की उष्ण वासना है वहीं संयोग की शीतल छाया भी है। इस रमणीय रचना में सुख-दुःख के घात-प्रतिघात पाश्चात्य उपन्यासों के से संघर्ष के रूप में नहीं दिखाये गये हैं, बदलीवाले दिन के छाया-प्रकाश की भाँति उनकी युगपत् गति है। उसमें सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण उत्तम शैली का है। संपूर्ण उपन्यास अपनी कोटि का एक ही है और इसकी परंपरा अत्यंत विरल तथा वर्तमान काल में लुप्तप्राय हो चुकी है। इस काल के उपन्यासकार में न उतने बृहत् ऊहापोह की क्षमता है, न पाठकों में उतना पढ़ने का धैर्य है कि दूसरी कादंबरी की रचना की जा सके। तथापि इस उपन्यास की वर्णन और चित्रण संबंधी अनेक अभिनव विशेषताएँ वर्तमान कलाकारों के अध्ययन, मनन और अनुकरण का विषय बन गई हैं।

पहले तो उपन्यासों का संबंध घटनाओं और व्यापारों अर्थात् उन बातों से होता है जो सहन या संपादित की जाती हैं,

उपन्यास के तत्त्व

इन्हीं को हम उपन्यास की "वस्तु" कहते हैं। दूसरे ये घटनाएँ और व्यापार मनुष्यों के आश्रित होते हैं; अर्थात् उन बातों को सहने या करनेवाले मनुष्य होते हैं जो व्यापार की शृंखला को स्थिर रखते हैं। इन्हें "पात्र" कहते हैं। उन पात्रों का आपस में वार्तालाप तीसरा तत्त्व है जिसे "कथोपकथन" कहते हैं और जिसका चरित्र-चित्रण से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। ये सब व्यापार या घटनाएँ किसी समय

या स्थान में होनी चाहिएँ, जहाँ और जिसमें पात्रों को अपना कार्य करना तथा सुख-दुःख भोगना पड़ता है। इसे "देश-काल" कहते हैं। यह चौथा तत्त्व है। पाँचवाँ तत्त्व "शैली" और छठा "उद्देश्य" है। प्रत्येक उपन्यास में लेखक को जीवन-संबंधी अपने विचारों को परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में प्रकट करना पड़ता है। इसके निमित्त उसे अपने विचारों के अनुसार घटनाओं का क्रम-स्थापन, पात्रों के राग भाव आदि का प्रदर्शन तथा वस्तु-निर्देश इस प्रकार से करना पड़ता है जिसमें वह अपने सांसारिक भाव और जीवन के लक्ष्य प्रकट कर सके। अतएव उपन्यास के छः तत्त्व होते हैं। इनमें से शैली को छोड़कर हम शेष पाँच तत्त्वों पर क्रमशः विचार करेंगे।

वस्तु

वस्तु का विचार आरंभ करते ही हमें यह जानने की आवश्यकता होती है कि किस उपन्यास की सामग्री कहाँ से ली गई है; अर्थात् जीवन की व्याख्या करने में उसके किन किन उपादानों का उपयोग हुआ है। सांसारिक जीवन अनेक अवस्थाओं में विभक्त है। राजा महाराज से लेकर साधारण से साधारण व्यक्ति तक अपना जीवन निर्वाह करते हैं। यद्यपि उनमें अवस्था के अनुसार अनेक बातों में भेद रहता है, पर संसार में मनुष्य मात्र एक ही प्रकार के रागों, भावनाओं और विचारों आदि से प्रेरित होता है। उन्हें एक ही प्रकार का कहने में हमारा तात्पर्य यही है कि मनुष्य मात्र में सुख-दुःख, स्नेह, घृणा,

दया, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष आदि के भाव और जीवन के साधारण प्रश्न जैसे दरिद्रता, संपन्नता, स्वास्थ्य, रोग, मित्रता, शत्रुता आदि की अवस्थाएँ समय समय पर उपस्थित होती रहती हैं और अपना अपना प्रभाव दिखाकर जीवन को सुखमय अथवा दुःखमय बनाती अथवा उसमें उलट-फेर करती हैं। अतएव हमें पहले यह विचार करना पड़ता है कि किसी उपन्यास में जीवन की किस अवस्था का चित्र खींचा गया है और उसमें किन किन उपादानों का उपयोग किया गया है। साधारणतः देखने की बात यह होती है कि कहीं उसमें जीवन की साधारण और तुच्छ बातों की ओर तो विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, और ऐसी बातों की उपेक्षा तो नहीं की गई है जो मानव-जीवन में सर्वथा और सर्वदा व्याप्त रहती हैं और जिन्हें हम जीवन का मूल भाव कह सकते हैं। काव्य को हम जीवन की व्याख्या कह चुके हैं, अतएव किसी अच्छे उपन्यास की महत्ता इसी में होती है कि वह उन बातों पर अधिक जोर दे जो जीवन को उत्साहपूर्ण, उद्योगी, दृढ़ और शिक्षामय बनाती हैं। एक कृषक के जीवन की साधारण से साधारण घटनाओं को लेकर एक वीर-शिरोमणि की रोमांचकारी कृतियों तक में ये गुण विद्यमान रह सकते हैं। अथवा यह कहा जा सकता है कि जीवन का दुःखमय अंत या उसकी सफलता की पराकाष्ठा ही अधिक प्रभावोत्पादक होती है। पर किसी अच्छे उपन्यास की महत्ता इस बात में होती है कि वह उन बातों को अपना मुख्य आधार

बनावे जो मनुष्य मात्र के जीवन-संग्राम और उसकी संपत्ति-विपत्ति की घटनाओं से संबंध रखने के कारण हमारे मर्म को स्पर्श करनेवाली हों।

उपन्यासों का एक उद्देश्य खाली समय में चित्त बहलाना और दिन भर के परिश्रम तथा थकावट के उपरांत चित्त को शांति देना भी है। जो उपन्यास यह उद्देश्य सिद्ध करते हैं और उच्च कोटि के आनंद का उद्रेक करते हुए हृदय को शक्ति और उत्साह से संपन्न करते हैं वे अवश्य अच्छे उपन्यासों में गिने जाने के योग्य होते हैं। पर इनमें भी कथा कहने का ढंग, चरित्र-चित्रण में कौशल अथवा मनोविनोद या परिहास आदि के गुणों के रहने के कारण कथा-वस्तु के साधारण होने पर भी उपन्यास उत्तम श्रेणी का हो सकता है।

हम यह बात पहले लिख चुके हैं कि उत्तम काव्य के लिए यह आवश्यक है कि कवि या लेखक अपने भावों या मनोवेगों का व्यंजन करने तथा उनके कारण हममें जो सुख-दुःख, आशा निराशा, भ्रम आशंका, आश्चर्य चमत्कार, श्रद्धा भक्ति आदि के भाव उत्पन्न होते हैं, उनके व्यक्त करने में निष्कपटता का व्यवहार करे। इसी को हमने "कवि-कल्पना में सत्यता" का नाम दिया है। पर यह कह बैठना कि उपन्यास का तो आधार कल्पित कथा ही है, उसमें सत्यता कदाचित् ही कहीं मिल सके, अपने को भ्रम-जाल में डालना है। उपन्यासकार जीवन की चाहे जिस घटना या स्थिति को लेकर अपना काल्पनिक राज्य

स्थापित करे, पर उसके लिए यह आवश्यक है कि वह घटना या स्थिति के रहस्यों और विशेषताओं से पूर्णतया परिचित हो। यदि उसमें इस ज्ञान का अभाव हो तो उसे उचित है कि उसके चित्रण करने का साहस न करे। मान लीजिए कि कोई उपन्यासकार किसी काल की ऐतिहासिक स्थिति का चित्र अपने उपन्यास द्वारा उपस्थित करना चाहता है। अब उसके लिए यह आवश्यक है कि वह उस काल की सामाजिक, राजनीतिक आदि स्थितियों का पूरा पूरा परिचय प्राप्त करे। उसे यह जानना आवश्यक है कि उस काल में राजाओं, रानियों, राजकुमारों, राजकुमारियों, राज्य के बड़े बड़े अधिकारियों, सेनाओं तथा साधारण प्रजा के रहन-सहन का ढँग क्या था, राजकार्य किस प्रकार चलता था, शासन कैसे होता था, महलों में क्या व्यवस्था थी तथा उस समय की राजनीतिक स्थिति कैसी थी। इन बातों को जाने बिना मौर्य-काल, गुप्त-काल, या मुग़ल-काल की घटनाओं पर उपन्यास लिखने का साहस करना अपनी मूर्खता प्रकट करते हुए एक ऐसा चित्र उपस्थित करना है जो वास्तविकता से कोसों दूर होगा और जिसके कारण मिथ्या ज्ञान का प्रचार बढ़ेगा। कुछ आचार्यों का कहना है कि जिस विषय का स्वयं अनुभव न कर लिया गया हो उस विषय पर कुछ कहना या लिखना उचित नहीं। यदि आप समुद्र में आँधी आने पर जहाज के टूटने का वर्णन करना चाहते हों, तो यह आवश्यक है कि किसी ऐसी घटना का

आपने स्वयं अनुभव किया हो। अथवा यदि आप मदकचियों और शराबियों के विषय में कुछ लिखना चाहते हों तो पहले उनके व्यवहारों, विचारों और रहन-सहन का अनुभव प्राप्त कर लें, तब कुछ लिखें। इस कथन में बहुत कुछ सत्यता है; पर यह ध्यान रखना चाहिए कि अनुभव अनेक प्रकार से प्राप्त हो सकता है। हम किसी बात का स्वयं अनुभव प्राप्त कर सकते हैं, या पुस्तकों को पढ़कर अथवा ऐसे लोगों से बातचीत करके भी यह अनुभव प्राप्त कर सकते हैं, जिन्हें स्वयं ऐसा करने का अवसर प्राप्त हुआ हो। अनुभव प्राप्त करने की इस प्रकृति के साथ ही साथ लेखक की प्रतिभा भी इस कोटि की होनी चाहिए कि जितने उपाय उसको उपलब्ध हो सकें, उन सबसे अपना अनु-भव-भांडार भरकर वह अपनी कल्पना-शक्ति से ऐसा जीता जागता चित्र उपस्थित करे जो वास्तविकता के रंग से पूरा पूरा रँगा हुआ ज्ञात हो। अतएव यह आवश्यक है कि उपन्यास-लेखक मनुष्यों और वस्तुओं का जितना अधिक संभव हो, अनु-भव प्राप्त करे और अपने उद्देश्य की सिद्धि में उसका उपयोग करे। इस प्रकार जब लेखक की कल्पना-शक्ति अनुभव का सहारा लेकर अपने कार्य में प्रवृत्त होगी, तब उसे अवश्य ही पूरी पूरी सफलता प्राप्त होगी।

वस्तु-विन्यास के विचार से उपन्यासों के दो भेद माने जाते हैं। एक तो वे जिनमें भिन्न भिन्न घटनाओं का एक प्रकार से असंबद्ध वर्णन रहता है। वे घटनाएँ एक दूसरी पर आश्रित

नहीं रहतीं और न दूसरी घटना पहली घटना का आवश्यक या अनिवार्य परिणाम होती है। इन घटना-समूहों को एक सूत्र में बाँधनेवाला उस उपन्यास का नायक होता है और उसी के विशिष्ट चरित्रों को लेकर उपन्यास के भिन्न भिन्न अवयवों का ढाँचा खड़ा किया जाता है। ऐसे उपन्यासों की वस्तु को असंबद्ध या शिथिल कथनात्मक कहा गया है। दूसरे प्रकार के उपन्यास वे होते हैं जिनमें घटनाएँ एक दूसरी से इस प्रकार संबद्ध रहती हैं कि वे साधारणतः अलग नहीं की जा सकतीं और सब अंतिम परिणाम या उपसंहार की ओर अग्रसर होती हुई उस उपन्यास को एक ऐसा रूप दे देती हैं जिसमें उसके भिन्न भिन्न अंग या अवयव एक दूसरे से मिले हुए रहते हैं और उनको अलग अलग करने से सबकी महत्ता नष्ट हो जाती है। ऐसे उपन्यास एक व्यापक विधान के अनुसार बनाये जाते हैं और उनकी सार्थकता घटना-समूहों पर निर्भर रहती है। ऐसे उपन्यासों की वस्तु को संबद्ध घटनात्मक कहते हैं। इस बात का निर्णय करना कठिन है कि इन दोनों प्रकार के उपन्यासों में से कौन अच्छा है। हम यह बात पहले कह चुके हैं कि उपन्यासों में सुगमता, स्वाभाविकता और मनोमुग्धकारिता के गुणों का रहना आवश्यक है। घटनाएँ संबद्ध हों या असंबद्ध हों, परंतु यदि किसी उपन्यास में इन तीनों गुणों का समावेश कुशलतापूर्वक किया गया हो, तो उस उपन्यास को सार्थक मानकर उसकी उत्तमता को स्वीकार करना चाहिए। कदाचित् यह कहना अनुचित न होगा

कि संबद्धता और असंबद्धता दोनों में से अति की मात्रा को यत्न-पूर्वक बचाना चाहिए। संबद्धता भी इतनी न हो कि उपन्यास में कष्ट कल्पना का दोष आ जाय और स्वाभाविकता नाम मात्र को रह जाय। असंबद्धता भी इतनी न होनी चाहिए कि किसी उपन्यास के भिन्न भिन्न परिच्छेद अलग अलग कथाएँ जान पड़ें। किसी किसी उपन्यास में दो कथाओं का भी समा-वेश कर दिया जाता है। यदि ऐसा हो तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि दोनों कथाएँ आपस में ऐसी मिल जायँ कि वे अलग अलग न जान पड़ें। उनका दूध और चीनी का सा सम्मिश्रण होना आवश्यक और वांछनीय है।

उपन्यासों की कथा कहने के तीन ढंग हैं। पहले में तो उपन्यासकार इतिहासकार का स्थान ग्रहण करके और वर्णनीय कथा से अपने को अलग रखकर अपने वस्तु-विधान का क्रमशः उद्घाटन करता हुआ पाठकों को अपने साथ लिये हुए अंतिम परिणाम तक पहुँचाकर अपना अभिप्रेत प्रभाव उत्पन्न करता है। दूसरे ढंग में उपन्यासकार नायक का आत्मचरित उसके मुँह से अथवा कभी कभी किसी उपपात्र या गौण पात्र के मुँह से कह-लाता है। तीसरा ढंग वह है जिसमें प्रायः चिट्ठियों आदि के द्वारा कथा का उद्घाटन किया जाता है। तीसरा ढंग बहुत कम और पहला ढंग बहुत अधिक काम में लाया जाता है। पहले ढंग का अनुसरण करने में ग्रंथकार को अपना कौशल दिखाने का पूरा पूरा अवसर मिलता है। दूसरे और तीसरे ढंग का अनुसरण

करने में उसे कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इनमें से सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वह अपनी समस्त सामग्री का यथोचित उपयोग नहीं कर सकता।

पात्र

वस्तु-विन्यास के अनंतर जब हम किसी उपन्यास के पात्रों के विषय में विचार करते हैं, तब पहला प्रश्न जो स्वभावतः उपस्थित होता है वह यह है कि क्या ग्रंथकार अपने पात्रों को हमारे सम्मुख वास्तविकता के परिधान से वेष्टित करने में सफल हुआ है? क्या हम उन्हें वैसा ही समझते और मानते हैं? क्या हमारी सहानुभूति उनके साथ वैसी ही है? क्या हम उनसे वैसा ही स्नेह या घृणा करते हैं, जैसा हम संसार के अन्य जाने बूझे लोगों से करते हैं? यदि ये मनोवेग हमारे मन में उदित हो सकें, तो समझना चाहिए कि ग्रंथकार अपने उद्योग में सफल हुआ। इसके विपरीत यदि हमने उन पात्रों को सांसारिक जीवों से भिन्न जानकर उनका निवास एक भिन्न लोक ही में मान लिया है और उनकी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों को अलौकिक अनुमान कर लिया है तो इस बात में कोई संदेह नहीं रहा कि ग्रंथकार मानव-जीवन की व्याख्या करने में विफलप्रयास हुआ। ग्रंथकार चाहे अपने साधारण अनुभव का उपयोग करे, चाहे अपने असाधारण अनुभव की परीक्षा करे, उसके पात्रों को सजीव स्त्री-पुरुषों की भाँति अपनी भूमिका संपादित करनी चाहिए और अपनी

मानवी स्थिति का भाव हमारे मन पर अंकित कर देना चाहिए।

चरित्र-चित्रण में प्रायः दो उपायों का अवलंबन किया जाता है। एक को विश्लेषणात्मक या साक्षात् और दूसरे को अभिनयात्मक या परोक्ष कहते हैं। पहले प्रकार में उपन्यास-लेखक अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वयं अपने शब्दों में करता है। वह पात्रों के भावों, विचारों, प्रकृतियों और राग-द्वेषों को समझता, उनकी व्याख्या करता, उनके कारण बताता और प्रायः उनपर अपना विवेचनापूर्ण मत भी प्रकट करता है। दूसरे प्रकार में लेखक आप मानों अलग खड़ा रहता है और स्वयं पात्रों को अपने कथन और व्यापार से तथा उसके संबंध में दूसरे पात्रों की टीका-टिप्पणी तथा सम्मति से अपना चरित्र-चित्रण करने देता है। उपन्यासों की कथा कहने के तीन ढंग हैं—(१) ऐतिहासिक या अन्यपुरुषवाचक, (२) आत्मचारित्रिक या उत्तम पुरुषवाचक और (३) पत्रात्मक। इनमें से पहले ढंग में चरित्र-चित्रण प्रायः विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष प्रणाली से किया जाता है; और दूसरे तथा तीसरे ढंग में अभिनयात्मक या परोक्ष प्रणाली से। उपन्यासों में लेखक का वर्णन तो विश्लेषणात्मक प्रणाली के अनुसार ही होता है और पात्रों का परस्पर कथोपकथन अभिनयात्मक प्रणाली के अनुसार; इसलिए प्रायः दोनों प्रणालियों का प्रयोग और सम्मिश्रण देख पड़ता है।

पात्रों के विषय में विचार करने के अनंतर यह स्वाभाविक है कि हम उनकी बातचीत पर विचार करें। कथोपकथन का

कथोपकथन

सुचारु रूप से प्रयोग किसी उपन्यास की आकर्षक शक्ति को बहुत बढ़ा देता है। उपन्यास के इस तत्त्व के द्वारा हम उसके पात्रों से विशेष परिचित होते और दृश्य काव्य की सजीवता और वास्तविकता का बहुत कुछ अनुभव करते हैं। वह कथा को चटकीला बना देता और लेखक का कौशल स्पष्ट प्रकट कर देता है।

यद्यपि कथोपकथन का उद्देश्य प्रायः वस्तु का विकास करना माना जाता है, पर वास्तव में उसका संबंध पात्रों से है। उसके द्वारा राग द्वेष, प्रवृत्ति, मनोवेग आदि का प्रस्फुटन, पात्रों की स्थिति का घटनाओं के अनुकूल परिवर्तन और उनका एक दूसरे पर प्रभाव बहुत अच्छी तरह दिखाया जा सकता है। कुशल लेखक, जो अभिनयात्मक ढंग को अधिक पसंद करता हो, इसके द्वारा चरित्र का विश्लेषण तथा उसकी व्याख्या बड़े सुंदर ढंग से कर सकता है। और यदि ऐसा करने में स्वाभाविकता बनी रहे तो मानों सोने में सुगंध आ जाती है। यदि विश्लेषणात्मक ढंग का भी प्रयोग किया जाय तो भी वह लेखक की उद्देश्य-सिद्धि में बड़ी सहायता पहुँचा सकता है।

हम यह बात कई स्थानों में लिख चुके हैं कि सब प्रकार के काव्यों की विशेषता यही होती है कि वे पढ़नेवालों के भिन्न भिन्न मनोवेगों को उत्तेजित करके उनमें अलौकिक आनंद का उद्रेक

करें। यही मनोवेग या भाव साहित्य-शास्त्र में रस के मूल कहे जाते हैं। उपन्यास में भी उनके संचार की आवश्यकता होती है। उनके बिना उपन्यास नीरस और प्रभाव-शून्य होते हैं। यही कारण है कि उनकी उपस्थिति अथवा अभाव इतना प्रत्यक्ष होता है कि साधारण से साधारण पाठक भी उनका अनुभव किये बिना नहीं रह सकता। अतएव यहाँ संक्षेप में इस बात का विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है कि किसी लेखक में पाठकों के मन में आनंद, करुणा, सहानुभूति अथवा विनोद आदि उत्पन्न करने की शक्ति का होना कहाँ तक आवश्यक और उपयोगी है।

उपन्यास और रस

अब हम देश-काल-अपेक्षित उपन्यासों के देश और काल का विचार करते हैं। उपन्यास के "देश और काल" से हमारा तात्पर्य उसमें वर्णित आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन और परिस्थिति आदि से है। इसे हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक तो सामाजिक और दूसरा ऐतिहासिक या सांसारिक। ऐसे उपन्यास लिखना सहज नहीं है जिनमें जीवन या समाज के सभी अंगों और स्वरूपों का समावेश हो, और इसी लिए ऐसे उपन्यास देखने में भी कम आते हैं। साधारणतः अधिकांश उपन्यास ऐसे होते हैं जिनमें जीवन अथवा समाज के दो ही एक अंगों का चित्र खींचा गया हो। कोई उपन्यास साधारण

देश और काल

गार्हस्थ्य जीवन से संबंध रखता है और कोई किसी ऐतिहासिक घटना पर अवलंबित होता है। पर फिर भी दोनों में से कोई पूर्ण व्यापक नहीं हो सकता। गार्हस्थ्य जीवन के भी अनेक अंग हैं। किसी उपन्यास में कलहप्रिय स्त्रियों का चरित्र चित्रित होता है, किसी में नवयुवकों का नैतिक पतन दिखलाया जाता है, किसी में धनवानों के विलास और नाश का प्रदर्शन होता है, किसी में दरिद्रों के कष्ट-पूर्ण जीवन का निरूपण होता है। बहुधा ऐसा होता है कि उपन्यास का आरंभ तो साधारण परिस्थिति में होता है, पर आगे चलकर उसके नायक को कठिन, असाधारण और विपरीत परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। लेखक चाहे जिस प्रणाली का अनुसरण करे और चाहे जिस अवस्था का चित्र खींचे, पर यह स्पष्ट है कि उसे चरित्र-चित्रण में देश, काल और परिस्थिति आदि का पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ेगा।

ऐतिहासिक उपन्यासों में इन बातों का ध्यान रखने की और भी अधिक आवश्यकता होती है; क्योंकि उनमें लेखक को किसी विशिष्ट युग अथवा काल का चित्र अंकित करना पड़ता है। कुछ उपन्यास तो स्वयं ऐतिहासिक घटनाओं से संबंध रखते हैं; पर कुछ ऐसे भी होते हैं जिनके कथानक का इतिहास से बहुत थोड़ा संबंध होता है और जिनमें किसी ऐतिहासिक काल के सामाजिक अथवा किसी प्रकार के जीवन का चित्र रहता है। ऐसे उपन्यास लिखने के लिए यह बात बहुत ही आवश्यक है कि लेखक उस समय से संबंध रखनेवाली काम की सभी बातों

का बहुत अच्छी तरह और विचारपूर्वक अध्ययन करे। ऐतिहासिक उपन्यास का महत्त्व तो केवल इसी में है कि उसमें किसी प्राचीन काल के जीवन का पूर्ण और विस्तृत वर्णन किया जाय, जिससे पाठकों के सामने उस काल का जीता-जागता चित्र उपस्थित हो जाय। और यह बात तभी हो सकती है जब लेखक ने उस काल की सभी बातों का भली भाँति अध्ययन किया हो; और साथ ही उसमें उनका ठीक ठीक वर्णन करने की पूरी शक्ति भी हो। ऐतिहासिक उपन्यास लिखनेवाले का काम ही यह है कि पुरातत्त्व और इतिहास के जानकारों ने जिन रूखी-सूखी बातों का संग्रह किया हो, उनको वह सरस और सजीव रूप देकर अपने पाठकों के सामने उपस्थित करे, और उसे इधर-उधर बिखरी हुई जो सामग्री भिन्न भिन्न साधनों से मिले, उसकी सहायता से वह अपने कौशल के द्वारा एक सर्वांगपूर्ण चित्र प्रस्तुत करे। जिस ऐतिहासिक काल की घटनाओं के आधार पर कोई उपन्यास लिखा जाय, उस काल के विचारों, भावों, व्यवहारों और परिपाटियों आदि का उसमें ठीक ठीक और पूरा पूरा वर्णन होना चाहिए।

उद्देश्य

अब हम उपन्यास के अंतिम और छठे तत्त्व उद्देश्य का कुछ विचार करते हैं। इस उद्देश्य से हमारा तात्पर्य जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना से है। नाटक की भाँति उपन्यास का भी जीवन के साथ सबसे अधिक और घनिष्ठ संबंध है।

उपन्यासों में मुख्यतः यही दिखलाया जाता है कि पुरुषों और स्त्रियों के विचार, भाव और पारस्परिक संबंध आदि कैसे हैं; वे किन किन कारणों अथवा प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कैसे कैसे कार्य करते हैं; अपने प्रयत्नों में वे किस प्रकार सफल अथवा विफल होते हैं और इन सबके फल-स्वरूप उनमें कैसे कैसे मनोविकार आदि उत्पन्न होते हैं। उपन्यास-लेखक का जीवन के किसी एक अथवा अनेक अंगों के साथ बहुत ही घनिष्ठ संबंध होता है; इसलिए किसी न किसी रूप में यह प्रकट करना उसका कर्तव्य हो जाता है कि जीवन के साधारण और असाधारण सभी व्यापारों का उस पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ा है। कुछ विशेष सिद्धांतों अथवा विचारों के प्रतिपादन के उद्देश्य से तो बहुत ही कम उपन्यास लिखे जाते हैं, पर सभी उपन्यासों में कुछ न कुछ विशेष विचार अथवा सिद्धांत आपसे आप आ जाते हैं। यदि किसी छोटी से छोटी कहानी को भी ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो उसमें भी नैतिक महत्त्व का कोई न कोई सिद्धांत मिल ही जायगा। तो फिर उपन्यासों में जीवन-संबंधी ऐसे नैतिक सिद्धांतों या विचारों का पाया जाना तो बहुत ही साधारण बात है।

जीवन की व्याख्या

उपन्यासों में जीवन का आलोचन अथवा नैतिक सिद्धांतों का प्रतिपादन दो प्रकार से होता है। कुछ उपन्यास-लेखक तो, नाटककार की भाँति, सब घटनाओं और बातों को उनके वास्तविक रूप में ही अपने पाठकों के सामने उपस्थित कर देते हैं। संसार के मनुष्यों और

चरित्रों को वे जिस रूप में देखते अथवा पाते हैं, उसी रूप में वे उनको चित्रित करके छोड़ देते हैं और वस्तु-विन्यास के ढंग से ही वे अपने नैतिक सिद्धांतों का प्रतिपादन कर देते हैं। अर्थात् वे अपनी कल्पना की सहायता से संसार का एक सूक्ष्म अथवा संक्षिप्त रूप ऐसे ढंग से अंकित करते हैं, जिससे कुछ नैतिक सिद्धांत स्थिर किये जा सकते हैं। केवल पात्रों के चरित्र-चित्रण और कथानक के विकास से ही वे जीवन अथवा नीति-संबंधी अपने विचार और सिद्धांत प्रकट कर देते हैं, और तब पाठक अथवा आलोचक का यह काम रह जाता है कि वह उपन्यास में इधर-उधर बिखरी हुई बातों के आधार पर कुछ नैतिक निष्कर्ष निकाल ले।

किसी उपन्यास के जीवन-संबंधी तत्त्वों की परीक्षा करते हुए सबसे पहले इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें सत्यता की मात्रा कहाँ तक है। पर वह सत्यता वैज्ञानिक सत्यता से बिलकुल भिन्न और "कवि-कल्पना" में मिलनेवाली "सत्यता" के समान ही होगी। हम यह नहीं कह सकते कि उपन्यासों में केवल झूठी और कल्पित बातें भरी होती हैं और उनमें सत्यता का कोई अंश होता ही नहीं। यह सच है कि कोई उपन्यास आदि से अंत तक वास्तविक अथवा सच्ची घटनाओं के आधार पर नहीं होता, उसकी अधिकांश बातें लेखक की कल्पना से उद्भूत होती रहती हैं, परंतु इतना होने पर भी उसमें गूढ़ और

उपन्यास में सत्यता

अथवा शकुंतला में जो सत्य प्रतिपादित है उसमें क्या कभी कोई अंतर पड़ सकता है या वह कभी पुराना और निकम्मा हो सकता है।

किसी ने कहा है—"उपन्यास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और सब बातें सच्ची होती हैं; और इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और कोई बात सच्ची नहीं होती।" इस उद्धरण से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि इतिहासों में कुछ भी तथ्य नहीं होता। हमारा अभिप्राय तो केवल यही है कि लोग भली भाँति समझ लें कि उपन्यासों और नाटकों आदि का महत्त्व किस प्रकार से सत्य का आश्रित है। उपन्यास-लेखक कुछ सच्ची अथवा संभावित घटनाओं को तोड़-मरोड़कर किसी नये और विलक्षण ढंग से हमारे सामने उपस्थित कर सकता है। पर फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि जीवन की वास्तविक घटनाओं और शक्तियों अथवा आदर्श संभावनाओं से वह दूर जा पड़ा है। हाँ, यदि वह इन बातों से दूर जा पड़ा हो, यदि उसकी कृति में हमें आदि से अंत तक बिलकुल असंभव और अनुपयुक्त बातें ही मिलें, जैसी कि हिंदी के ऐयारी के और तिलस्मी उपन्यासों में मिलती हैं, तो हम कह सकते हैं कि लेखक ने उपन्यास के वास्तविक उद्देश्य अथवा लक्ष्य पर कुछ भी ध्यान नहीं रखा; और इस दृष्टि से उसकी कृति प्रशंसनीय नहीं है।

उपन्यास में जो सत्यता होती है वह वास्तव में उसकी वास्तविकता अथवा संभावना से संबद्ध होती है। जो बात संभव हो, अथवा जो नित्य किसी न किसी रूप में वास्तव में होती हो, उसी को उपन्यास में स्थान मिलना चाहिए। साथ ही कोई ऐसी बाधा भी नहीं होनी चाहिए जिससे लेखक अपनी कल्पना-शक्ति से पूरा पूरा काम न ले सके। लेखक को संसार और जीवन की वास्तविकताओं का भली भाँति निरीक्षण करना चाहिए और यथासाध्य उनका ज्यों का त्यों चित्र अंकित करना चाहिए। कवि, लेखक या चित्रकार आदि को सत्यता, वास्तविकता और कल्पना का मेल मिलाना पड़ता है। उसका अंकित चित्र वास्तविक भी होता है और कल्पित भी। वह वास्तविक तो इसलिए होता है कि सचमुच होनेवाली घटनाओं से बहुत कुछ मिलता-जुलता है; और कल्पित इसलिए होता है कि वास्तव में उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। तात्पर्य यह कि वास्तविकता और कल्पना दोनों की समान रूप से आवश्यकता होती है। न तो कोरी कल्पना से ही काम चल सकता है और न निरी वास्तविकता से ही। वास्तविकता में कल्पना का और कल्पना में वास्तविकता का सम्मिश्रण ही आनंददायक और शिक्षाप्रद हो सकता है।

उपन्यास में वास्तविकता

उपन्यास में नीति का स्थान सत्यता और वास्तविकता के अनंतर आता है। उसमें लेखक का मुख्य काम होता है कोई

अच्छी कहानी अच्छे ढंग से कहना; और कहानी अच्छी तभी कही जायगी, जब पढ़नेवाले को उससे कोई अच्छी शिक्षा मिलेगी। यदि यह बात न होगी, तो अच्छे उपन्यासों और साधारण ऐयारी के तथा तिलस्मी उपन्यासों में कोई अंतर ही न रह जायगा। उपन्यासों में वास्तविक घटनाओं का चित्र ऐसे ढंग से अंकित होना चाहिए कि उससे आपसे आप कुछ नैतिक शिक्षा मिले। आजकल जो उपन्यास अच्छे और उच्च कोटि के समझे जाते हैं उन सबसे बहुत सी अच्छी अच्छी शिक्षाएँ मिलती हैं। परंतु ये शिक्षाएँ स्वयं उस कहानी में ही ऐसे अच्छे ढंग से मिली हुई होनी चाहिएँ कि समय समय पर वे आप ही व्यक्त होती रहें। उपन्यास का स्वयं वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण आदि ही ऐसा होना चाहिए जो जीवन के शिक्षाप्रद अंगों से संबंध रखता हो और जिसके कारण पढ़नेवाले के मन पर कोई उत्तम, स्थायी और अभीष्ट प्रभाव पड़ता हो। जिस उपन्यास के पढ़ने से पाठकों के मन पर जितना ही अच्छा प्रभाव पड़ेगा वह उपन्यास, नैतिक दृष्टि से, उतना ही अच्छा समझा जायगा।

उपन्यास में नीति

२—आख्यायिका

साहित्यिक आख्यायिका का विकास अपने नवीन रूप में पाश्चात्य देशों से आरंभ हुआ। यद्यपि साहित्य के इस नये

अंग का आविर्भाव हुए अभी एक शताब्दी भी नहीं हुई, परंतु कतिपय कारणों से, जिनमें आख्यायिका का आकार एक प्रधान कारण है, उसकी कला यथेष्ट रूप से परिपुष्ट हो चुकी है और साहित्य के अन्य अंगों के समकक्ष वह स्वतंत्र विधि से रखी जा चुकी है।

साहित्यिक आख्यायिका

आख्यायिका का आकार आधुनिक युग की आवश्यकता के अनुसार ऐसा है जो पाठकों के लिए सुविधाजनक सिद्ध हुआ है। इसी कारण सामयिक पत्रों और पत्रिकाओं में उसे स्थायी स्थान प्रदान किया गया है, जिससे उसकी ओर जनता का ध्यान अधिक मात्रा में आकृष्ट हो सका है। प्रतिभाशाली लेखकों ने आख्यायिका की ओर लोकरुचि की अधिक प्रवृत्ति देखकर अपने सिद्धांतों को उसकी प्रणाली से व्यक्त करना आरंभ किया जिसके कारण आख्यायिका और भी समृद्ध हुई। एक ओर कला की दृष्टि से उसका विकास होता गया और दूसरी ओर उसमें उन्नत विचारों की मात्रा भी बढ़ती गई। यद्यपि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सामयिक पत्रों में स्थान मिल जाने के कारण आख्यायिका की रचना अर्थलाभ की भी दृष्टि से की गई और जनता की रुचि का विचार रखने के कारण उसके कलात्मक विकास में कुछ बाधा भी पड़ी, तथापि जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि साहित्य की प्रदर्शिनी में कितने थोड़े समय में वह कितना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुकी है, तब हमें उक्त बाधाएँ नगण्य सी प्रतीत होती

हैं और हम आख्यायिका की प्रगति पर पूर्ण परितोष प्राप्त करते हैं।

आरंभ में जब आख्यायिका का व्यक्तित्व विकसित न था, उसकी गणना छोटे उपन्यास की कोटि में की जा सकती थी।

आकार

उस समय उपन्यास और छोटी कहानी में केवल आकार का ही भेद था। आकार की भी कोई निश्चित मर्यादा न होने के कारण आख्यायिका यदि कुछ बड़ी हो जाती तो उपन्यास कहलाने लगती और उपन्यास कुछ छोटा हो जाता तो उसे आख्यायिका कहने लगते। इस प्रकार उपन्यास और आख्यायिका परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्ध थे। स्काट और डिकेंस आदि की कुछ औपन्यासिक रचनाएँ आकार में दीर्घ न होने के कारण उस समय आख्यायिका की ही कोटि में रखी गई थीं। परंतु कुछ काल के अनंतर जब आकार ही आख्यायिका की एकमात्र कसौटी न रह गया तथा जब अन्य उपसर्ग भी उसके निरूपण में सहायक हुए, तब आख्यायिका की एक भिन्न कला-कोटि बनी, जो क्रमशः दृढ़ता धारण करती गई और अब पूर्ण रूप से प्रशस्त हो चुकी है। आकार का भेद, जो कि आरंभिक अवस्था में उपन्यास और कहानी का एकमात्र विभेदक था, वर्तमान समय में गौण स्थान का ही अधिकारी रह गया है। यद्यपि साधारण रूप से यह स्वीकार किया जाता है कि आख्यायिका का आकार ३००० से लेकर लगभग १२००० शब्दों तक का होना चाहिए, तथापि

इससे कम तथा अधिक शब्द भी आख्यायिकाओं में पाये जाते हैं और वे आख्यायिकाएँ श्रेष्ठ भी मानी जाती हैं। इसका कारण यह है कि उनमें आख्यायिका-कला के अन्य उपकरण सुचारु रूप से प्रस्फुटित हुए हैं और आकार का प्रश्न अनावश्यक हो गया है।

विकास की प्रौढ़ावस्था में यद्यपि आख्यायिका के आकार का प्रश्न गौण अथवा अनावश्यक हो जाता है, तो भी प्राथमिक अवस्था में आकार के आधार पर ही उसकी कला उन्नति करने में समर्थ हुई है। उपन्यास और आख्यायिका दोनों ही काल्पनिक सृष्टि हैं। दोनों को यथार्थ की अनुरूपता प्राप्त करना परम आवश्यक होता है। दोनों में घटना और पात्र की ऐसी योजना अनिवार्य रूप से होनी चाहिए जिससे वह काल्पनिक रचना पूर्ण रूप से सजीव हो उठे। साहित्यिक कृति में सजीवता और वास्तविकता का अभाव उसके अस्तित्व पर ही कुठाराघात करता है। अतः यथार्थता का आभास उसमें सदैव मिलना चाहिए। अब विचारने की बात यह है कि उपन्यास का आकार दीर्घ होने के कारण उसमें यथार्थ और सजीव पात्रों का निर्माण उतना कठिन कार्य नहीं है जितना वह आख्यायिका में है। उपन्यास के एक लाख या उससे भी अधिक संख्या के शब्दों में वर्णन तथा चित्रण की जितनी सुविधा रहती है उतनी आख्यायिका के तीन चार हज़ार शब्दों में नहीं रह सकती। अतः आख्यायिका-लेखक को अपने इस

स्वल्प संबल का ध्यान रखना अतिशय आवश्यक होता है। वह अपनी कहानी में पात्रों या चरित्रों की संख्या उपन्यास की अपेक्षा अवश्य ही कम रखेगा। वह घटना या परिस्थिति के चक्र को अधिक सरल बनाने की चेष्टा करेगा। उपन्यास की सी जटिलता और सघनता न लाना चाहेगा। थोड़ा सा भी ध्यान देने पर यह प्रकट हो जायगा कि आख्यायिका-लेखक के इस विधान में केवल साधारण बुद्धि ही अपेक्षित है। इसमें कला-संबंधिनी कोई विशेष व्युत्पत्ति नहीं। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने छोटे से घर में बहुसंख्यक अतिथियों को आमंत्रित नहीं कर सकता और न उनके स्वागत-सत्कार या भोजन-पान की ही उचित व्यवस्था कर सकता है, उसी प्रकार एक आख्यायिका-लेखक भी अपने परिचित क्षेत्र में अनेकानेक चरित्रों और कथानकों की अवतारणा नहीं कर सकता। साधन के उपयुक्त ही साध्य हो सकता है।

आख्यायिका का लक्ष्य

इस साधन-साध्य के प्रश्न से कुछ ही आगे बढ़ने पर हमें आख्यायिका के विकास की वह सीढ़ी मिलती है, जो उसे उपन्यास के क्षेत्र से उठाकर एक दूसरे धरातल पर ला रखती है। इसे हम कहानी कला के विकास की पहली सीढ़ी कह सकते हैं। अपने साधन और उद्देश्य की ओर लक्ष्य कर आख्यायिका कला के आविर्भावकों ने यह नियम बनाया कि प्रत्येक आख्यायिका का एक निश्चित लक्ष्य उसे लिखने के पूर्व ही निरूपित कर लिया

जाय और इस निश्चित लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही घटना, वर्णन, पात्र आदि की सृष्टि की जाय। उक्त घटना और पात्र आदि उस निश्चित लक्ष्य की पूर्ति करने के निमित्त हों, उनकी कोई स्वतंत्र सत्ता न हो। आरंभ से ही जो वाक्य लिखे जायँ और जो क्रम चलाया जाय वे उक्त लक्ष्य से ही संबंधित हों, कहीं भी उससे भिन्न न पड़ें। उपन्यास में इस प्रकार का निर्दिष्ट नियम नहीं होता। परंतु आख्यायिका में तो आदि से अंत तक उसका पालन किया जाना अत्यंत आवश्यक है। अतएव उपन्यासों में घटनाओं का अनिर्दिष्ट क्रम और कथा का स्वच्छंद विकास किया जा सकता है, किंतु छोटी कहानी या आख्यायिका में उसकी सुविधा नहीं मिल सकती। आख्यायिका को तो एक ही निर्दिष्ट दिशा में आगे बढ़ना पड़ता है। इधर उधर चक्कर लगाना या भटकना, अंतःकथाओं की सृष्टि करना उसके लिए निषिद्ध है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि आज तक की लिखी गई समस्त श्रेष्ठ आख्यायिकाओं में एक मूल कथा के अतिरिक्त दूसरी अंतःकथा को स्थान ही नहीं दिया गया, तथापि आख्यायिका-कला के लिए उक्त नियम स्वीकार किया गया है और अधिकांश कहानियों में उसका पालन भी किया गया है।

इस प्रकार की आख्यायिका एक ही निश्चित लक्ष्य की ओर उन्मुख होने के कारण उपन्यासों से भिन्न अपनी एक नई शैली भी बनाने में समर्थ हुई है। उपन्यासों से ही नहीं, पुरानी कहानियों से भी आधुनिक आख्यायिका की शैली में भिन्नता

स्पष्ट प्रकट होती है। उपन्यासों तथा पुराने ढंग की कहानियों में अत्यंत करुण दृश्यों और वर्णनों के साथ प्रहसन भी सम्मिलित रूप में प्राप्त होता है। यही नहीं, उनमें कहीं धार्मिक और दार्शनिक सिद्धांतों का जमघट और कहीं आलंकारिक चमत्कार आदि भी सन्निहित रहते हैं। किंतु आधुनिक विकासप्राप्त आख्यायिका में इस प्रकार का सम्मिश्रण नहीं पाया जा सकता। तदनुकूल ही आख्यायिका की शैली अधिक निश्चित प्रभावशालिनी होती है। आख्यायिका-लेखक सदैव पाठक के सम्मुख उपस्थित होकर आमने सामने बातें करता सा प्रतीत होता है। उसकी शैली प्रत्यक्ष शैली कही जा सकती है। उपन्यास आदि की भाँति उसमें स्पष्ट इंगितों और उल्लेखों का अभाव रहता है। उपन्यासकार की भाँति आख्यायिका-लेखक अपने व्यक्तित्व को छिपाकर नहीं रख सकता; उसे प्रत्येक क्षण अपने व्यक्तित्व को प्रकट रखना और अपने संपूर्ण मंतव्य को स्पष्टतः कहना पड़ता है। उपन्यास-कला के लिए यह आवश्यक नहीं है कि लेखक अपने पाठकों के सम्मुख मित्र रूप में उपस्थित हो और अंतरंग की भाँति ही बातें करे। उसे अपना रहस्य छिपाने का भी अधिकार है। किंतु आख्यायिका-लेखक की शैली पाठक के अंतरंग मित्र की सी होती है। वह घरेलू और आपसी आदमियों की भाँति गपशप करता है। उसकी कला ऐसी ही शैली की आवश्यकता रखती है। वह व्यक्तित्वप्रधान शैली की कला है।

लेखक का व्यक्तित्व

इस स्थान पर यह प्रकट होता है कि आख्यायिका की कला गीति कविता से अधिक मात्रा में मिलती जुलती है। दोनों ही व्यक्तित्वप्रधान सृष्टियाँ हैं। गीति कविता में जिस प्रकार एक ही प्रधान भावना को उच्छ्वसित करना पड़ता है उसी प्रकार आख्यायिकाओं में भी एक ही प्रधान लक्ष्य की पूर्ति करनी पड़ती है। इन दोनों में ही भावना की एक धारा बहती है और सभी दृश्य प्रयोजनीय होते हैं। फालतू वस्तुओं का नितांत अभाव होने के कारण इसका प्रभाव अधिक मार्मिक होता है। कला की दृष्टि से ये दोनों ही श्रेष्ठ कोटि में आती हैं।

आख्यायिका और गीतिकाव्य

एक निश्चित उद्देश्य या लक्ष्य लेकर लिखी गई आख्यायिका यद्यपि निर्णयप्रधान होती है, परंतु स्मरण रखना चाहिए कि उसका निर्णय सदैव उपदेशात्मक ही नहीं होता। कुछ विद्वानों का यह मत है कि आरंभ में ही एक निश्चित विचार बना लेने और उसके निदर्शनार्थ कथा का सूत्र पिरो देने का लक्ष्य रखने के कारण आख्यायिका की कला उपदेशप्रधान होने को बाध्य है। परंतु यह मत सर्वथा सत्य नहीं प्रतीत होता। एक ही भाव या विचार की प्रधानता रहते हुए भी कथा की रचना ऐसी की जा सकती है कि जिसमें घटनाएँ और चरित्र अत्यंत स्वाभाविक रीति से अग्रसर हों और अत्यंत अनिवार्य रूप से उक्त भाव को ध्वनित करें। यह रचनाकार की निपुणता का

आख्यायिका और उपदेश

द्योतक होगा कि वह स्वाभाविक कथानक का तंतु तानकर उसमें कथा के लक्ष्य को इस प्रकार लपेट ले जिस प्रकार माता अपने बालक को गोद में छिपा लेती है। परंतु यदि आख्यायिका-लेखक उतना कुशल नहीं है तो आख्यायिका में उपदेश का पुट दूर से ही दिखाई देगा। ऐसी आख्यायिकाएँ किसी व्याख्यान के अंश सी प्रतीत होंगी। उनमें उच्च कला का स्वरूप स्फुटित होता न देख पड़ेगा। वह कार्य कठिन अवश्य है, जिसके द्वारा रचयिता अपनी रचना-वस्तु में, विशेषकर आख्यायिका जैसी छोटी रचना में, वर्णन और चित्रण का नैसर्गिक सामंजस्य करता हुआ कथा के लक्ष्य को भी स्पष्टतः प्रकट करे। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए अत्यंत उच्च कोटि की कल्पना अपेक्षित है। इसके लिए यह आवश्यक है कि छोटी सी सीमा में ही अनेक प्रकार की सुचारु योजनाएँ की जायँ और एक परिमित घेरे में ही विशद व्यापार के रूप में घटना, पात्र तथा परिस्थितियाँ एकत्र की जायँ। इसके लिए आख्यायिका-लेखक को उत्कृष्ट कोटि की ध्वन्यात्मक शैली का प्रश्रय लेना पड़ता है, नहीं तो वह स्वल्प सीमा में अपनी अभीष्ट सिद्धि नहीं कर सकता। श्रेष्ठ आख्यायिका की शैली इसी लिए ध्वनिगर्भित, पुष्ट और वेगवती होती है, तथा उसमें शिथिल व्यापार की योजना कदापि नहीं की जाती। आरंभ से ही पाठकों को यह विश्वास दिलाना पड़ता है कि जो कुछ आगामी पंक्तियों में कहा जायगा वह विश्वसनीय, रुचिकर और सत्य होगा तथा जिस शैली से विचार

व्यक्त किये जायँगे वह प्रांजल और आकर्षक होगी। उपदेश-प्रधान कहानियों में इतनी कलात्मक योजना नहीं हो सकती अत: श्रेष्ठ आख्यायिकाएँ उपदेशप्रधान नहीं होतीं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे एक विशिष्ट भाव, विचार या समस्या को लेकर नहीं चलतीं। बिना वैसा किये तो आख्यायिका-कला के प्राथमिक स्वरूप की ही सिद्धि होने में बाधा पड़ेगी। परंतु हमारे कथन का आशय यह है कि उनमें कथानक की योजना इस प्रकार की जाती है कि जिससे उक्त भाव, विचार या समस्या स्वभावतः ध्वनित होकर उपस्थित हो, ऊपर लादी गई न जान पड़े।

एक ही मुख्य लक्ष्य या भाव की अभिव्यक्ति करना तो आख्यायिका-कला की अनिवार्य और प्राथमिक विशेषता है।

आख्यायिका के उपकरण—(१) उद्देश्य

पूरे प्रबंध में एक भी शब्द ऐसा न होना चाहिए जिसकी प्रेरणा निश्चित आशय को प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से सिद्ध करने की नहीं होती। इस प्रकार, परिश्रम और कौशल-पूर्वक एक चित्र की रचना की जाती है जो उस कलाकार के मन में पूर्ण संतोष-सुख उत्पन्न करता है। आख्यायिका की मूलभूत भावना निर्विकार रूप में बिना किसी बाधा के व्यक्त हो जाती है—यह एक ऐसा उद्देश्य है जिसकी पूर्ति उपन्यास से कदापि नहीं की जा सकती।

आख्यायिका के इस आरंभिक उत्थान के उपरांत समय समय पर उसकी कला में अन्य उपकरण भी सम्मिलित किये

गये हैं। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय फ्रेंच कहानी-लेखकों द्वारा नियोजित नाटकीय उपकरण कहा जा सकता है। इसका

(२) घटना और पात्र

स्वरूप समझने के लिए फ्रांस देश में प्रचलित नाटक संकलन-संबंधी नियम पर ध्यान देना पड़ता है। वस्तु-विन्यास और काल का यह संकलन-त्रय आख्यायिका में भी चरितार्थ किया गया। नया नियम यह बना कि छोटी कहानी या गल्प एक ही पात्र, एक ही घटना, एक ही भाव अथवा एक ही दृश्य से उत्पन्न भाव-राशि का चित्रण कर सकती है। इस नये नियम का पालन यद्यपि पूर्ण रूप से न किया जा सकता था और न किया गया तो भी इसके फल-स्वरूप आख्यायिका-कला में कतिपय महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सबसे बड़ा प्रभाव यह पड़ा कि नाटक की भाँति आख्यायिका में आकर्षण उत्पन्न करनेवाली सामग्री की योजना अधिक होने लगी। उसकी वस्तु का विन्यास इस प्रकार किया जाने लगा जिससे कथा के बीच में घटना का उत्थान, चरमावस्था, पुनःपतन की लड़ी सजाई गई और इसी नाटकीय प्रभावशाली घटना-चक्र के अंतर्गत पात्रों का भी चित्रण किया गया। घटनाओं का क्रम ऐसा रखा गया जो पात्रों के जीवन-क्रम के स्वाभाविक फल-स्वरूप होता तथा जिससे पात्रों का आगामी विकास अभिन्न रूप से जुड़ा होता। इस प्रकार घटना और पात्र अन्योन्याश्रित बना दिये गये तथा दोनों के ही सम्मिलित उत्थान के द्वारा नाटकीय चमत्कार सन्निहित किया गया।

कथा में नायक को प्रधानता दी गई तथा उसके ही संसर्ग से घटनाओं का संघटन किया जाने लगा। घटनाओं में तीव्रता तथा प्रभावोत्पादकता की मात्रा अधिक रहने लगी तथा नायक की रंगस्थली अर्थात् कथा का देश-काल विशेष सावधानी के साथ यथार्थता का पूर्ण आभास लिये हुए अंकित किया जाने लगा।

इस नवीन नाटकीय तत्त्व के साथ जब हम पूर्वोक्त तत्त्व को मिलाकर रखते हैं तब आख्यायिका की एक व्यापक तथा विशिष्ट व्याख्या तैयार हो जाती है। उसे हम इन शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं कि आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को रखकर लिखा गया नाटकीय आख्यान है। इस व्याख्या के अंतर्गत आख्यायिका-कला का स्वरूप आ जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने कुछ अन्य उपकरणों का भी उल्लेख किया है, परंतु सूक्ष्म रीति से विचार करने पर प्रकट होगा कि वे सभी उपकरण इस व्याख्या की सीमा में आ जाते हैं। उदाहरण के लिए एक मत यह है कि आख्यायिका का एक अनिवार्य उपकरण संक्षिप्त प्रणाली से भावाभिव्यक्ति करना भी है। यद्यपि हम यह स्वीकार करते हैं कि यह संक्षिप्त शैली आख्यायिका की एक प्रधान विशेषता है और इसी कारण आख्यायिका की कला को ध्वनिविशिष्ट कहा गया है। परंतु उसकी यह विशेषता हमारी व्याख्या के ही अंतर्गत आती है। एक विशेष लक्ष्य या

नाटकीय आख्यान

प्रभाव को ही मूर्तिमान् करने के उद्देश्य से लिखी गई आख्यायिका संक्षिप्त शैली का आश्रय लेने तथा ध्वनि-विशिष्ट होने को बाध्य है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि आख्यायिका-लेखक संक्षिप्त होने की लालसा में कथा के स्वाभाविक क्रम को ही नष्ट कर दे और अपने उद्देश्य में असफल सिद्ध हो। आख्यायिका का विकास अप्रतिहत होना चाहिए। उसे संक्षिप्त करने का यदि कुछ अर्थ हो सकता है तो इतना ही कि अनावश्यक वर्णन तथा शब्दाडंबर से उसकी कलेवर-वृद्धि न की जाय। परंतु यह सिद्धांत तो साहित्य के सभी अंगों के लिए समान रूप से सत्य है। आख्यायिका में भी इसका प्रयोग सीमित नहीं रह सकता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि श्रेष्ठ आख्यायिका-लेखकों ने बड़ी ही प्रौढ़, अर्थ-शबल तथा स्पष्ट अभिव्यक्ति की चेष्टा की और उसमें सफलता भी प्राप्त की है। परंतु यह उनकी व्यक्तिगत या वर्गगत विशेषता मानी जा सकती है। आख्यायिका-कला का यह कोई स्वतंत्र सिद्धांत नहीं। इसे सन्निहित घनिष्ठ और एकीभूत प्रभाव उत्पन्न करने का एक साधन स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार एक दूसरा मत यह है कि संघटन की पुष्टता भी आख्यायिका की एक अभिन्न विशेषता मानी जानी चाहिए। किंतु यह तो आख्या-यिका के नाटकीय तत्त्व से ही संबद्ध एक उपकरण है। ऊपर नाटकीय तत्त्व की चर्चा करते हुए हम कह चुके हैं कि घटना का पात्रों के साथ अन्योन्याश्रित संबंध तथा उनका सम्मिलित

आरोह-अवरोह नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने के लिए आवश्यक समझा गया है। आख्यायिका के संघटन की पुष्टता के पक्ष-पातियों का भी प्रायः यही मत है। अतः इस मत को भी हम उक्त व्याख्या की सीमा में सम्मिलित कर सकते हैं। उसे अलग से उपस्थित करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

कहा जा सकता है कि उन्हीं दो प्रमुख उपादानों से आख्या-यिका का व्यक्तित्व प्रकट होता है। ऊपर हम कह चुके हैं कि

आख्यायिका और लोकसेवा

आख्यायिका का आकार आधुनिक युग के पाठकों के लिए विशेष सुविधाजनक है। अतः जन-समूह में अपने विचारों और सिद्धांतों के प्रचारार्थ इसका प्रयोग किया जाना स्वाभाविक ही था और इसका पालन बहुत कुछ किया गया है।

इस प्रकार की विधियों की जानकारी से उच्च कोटि के आख्यायिका-लेखक की सृष्टि नहीं की जा सकती। प्रसिद्ध

आख्यायिका के सिद्धांत

लोकोक्ति के अनुसार प्रकृति ही वह सर्व-श्रेष्ठ तथा उपयोगिनी पुस्तक है जिसके पन्ने सबके लिए समान रूप से खुले हुए हैं। जिस मनुष्य में जितनी अधिक ग्राहिका शक्ति होगी वह उतना ही बड़ा रचनाकार हो सकता है। यह शक्ति भी स्वयं प्रकृति की देन है जो अभ्यास के द्वारा और भी उन्नत की जा सकती है। तो भी आख्यायिका-कला के प्रधान तत्त्वों तथा उसके विकास की कुछ मुख्य दिशाओं

के दर्शन से नवीन अभ्यासियों को बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर पाठक समझ सकते हैं कि प्रकृति के रहस्यों का गंभीर निरीक्षण, सांसारिक अनुभव की प्रचुरता तथा नवीन उद्भावना की शक्ति जिस प्रकार अन्य साहित्यिक रचनाओं के लिए आवश्यक है उसी प्रकार आख्यायिकाओं के लिए भी है। आख्यायिका-कला की जानकारी से भी रचयिताओं को लाभ उठाना चाहिए। शैली के विषय में यह समझ लेना चाहिए कि आख्यायिका के छोटे घेरे में प्रभावशालिता पर पूरा ध्यान देना होता है। एतदर्थ श्रेष्ठ आख्यायिकाकारों ने नियम सा बना लिया है कि वे कथनोपकथन की नाटकीय तथा अर्थशबल शैली का ही कहानियों में प्रयोग करेंगे। कथोपकथन का आख्यायिका के लिए बहुत बड़ा महत्त्व है। जो लेखक वस्तु-वर्णन के द्वारा अपना मंतव्य प्रकट करता है उसे बड़े विस्तार की आवश्यकता होती है। पाठकों को उस वर्णन पर विश्वास करने को प्रेरित करना पड़ता है—इसमें अधिक कठिनाई का सामना करना होता है। किंतु कथोपकथन के द्वारा—यदि वह अत्यंत मार्मिक तथा वास्तविक हो तो एक अनोखा चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है, और पाठक स्वतः उससे अपना निष्कर्ष निकाल लेता है। कथोपकथन की वास्तविकता का यह अर्थ नहीं कि साधारण मनुष्य जिस प्रकार बातचीत करते हैं उसी का अनुसरण किया जाय। आधुनिक कथोपकथन, जिसका प्रयोग नाटक

तथा आख्यायिका में किया जाता है, अत्यंत मार्मिक मनोवैज्ञानिक वस्तु है। इसका प्रयोग उत्तम कोटि के कलाकार करते और उनमें बौद्धिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा दिखा देते हैं। उनके हाथों में पड़कर कथोपकथन श्रेष्ठ ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति की प्रणाली बन जाती है। आख्यायिका में भी इसी के प्रयोग का चलन हो गया है। इसी के फल-स्वरूप विद्वानों का एक वर्ग आख्यायिका की कला को संकेतमूलक कला कहता है। इसी के कारण आख्यायिका का अध्ययन पाठकों की बुद्धि का तकाजा करता है। उपन्यास की भाँति आख्यायिका पढ़कर जिज्ञासा की शांति नहीं होती, वह और बढ़ती है। अधिक उत्तेजित होकर पाठक की बुद्धि जीव-जगत् के रहस्यों को जानने के लिए उन्मुख होती है। यह आधुनिक आख्यायिका की बौद्धिक विशेषता उसे उपन्यासों से भिन्न कोटि में ला रखती है।

बौद्धिक वृत्ति जागरूक रहने के कारण आख्यायिका का पाठक उसके लेखक से बहुत अधिक विवेक की अपेक्षा रखता है। लेखक को भी तदनुसार ही अधिक कौशलपूर्वक अपना कार्य करना पड़ता है। वह अपनी आख्यायिका में कहीं भी अविश्वसनीय अंश न आने देगा, ऐसा अंश जो पाठक की कल्पना को कुछ भी न खटके। वह आख्यान को अधिक स्थायी प्रभावकारक बनाने के आशय से वस्तुओं के रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि का सूक्ष्म वर्णन करेगा। ये तन्मात्राएँ पाठक के मन में बैठ जाती हैं और उसकी स्मृति को दृढ़ करती हैं।

यह कहा जा सकता है कि आख्यायिका की विशेषता प्रदर्शित करते हुए जो बातें ऊपर कही गई हैं वे साहित्य के अन्य अंगों के संबंध में भी चरितार्थ होती हैं। विशेषतः उपन्यास की रचना में तो आख्यायिका के सभी तत्त्व आ जाते हैं। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि साहित्य का एक अंग दूसरे अंग से घनिष्ठ रूप से संलग्न है। विशेषतः उपन्यास और आख्यायिका का अत्यंत आत्मीय संबंध है। पहले हम उपन्यास को आख्यायिका का जनक कह चुके हैं। इसलिए यह आशा न करनी चाहिए कि आख्यायिका के विषय की बातें अन्य साहित्यांगों से नितांत पृथक् हैं।

३—निबंध

निबंध की विशेषता

आकार में आख्यायिका के अनुरूप परंतु अन्य कतिपय गुणों में उससे भिन्नता लिए हुए निबंध नाम का एक स्वतंत्र साहित्यिक वर्ग विद्वानों के द्वारा स्वीकार किया गया है। आकार से ही नहीं, अन्य प्रकार से भी आख्यायिका और निबंध परस्पर समता रखते हैं। दोनों ही एक निश्चित विषय या लक्ष्य लेकर लिखे जाते हैं और उसके पूर्ण हो जाने पर समाप्त हो जाते हैं। दोनों ही अपना अपना पृथक् व्यक्तित्व रखते हैं। जिस प्रकार किसी उपन्यास का एक परिच्छेद या प्रकरण आख्यायिका नहीं कहा जा सकता, वरन् आख्यायिका कहलाने के लिए उसमें आख्यायिका

की शैली की विशेषताएँ तथा उसकी कलात्मक पूर्णता आवश्यक है, उसी प्रकार किसी दार्शनिक या साहित्यिक ग्रंथ का एक अध्याय निबंध के नाम से अभिहित नहीं हो सकता। निबंध की कोटि तक पहुँचने के लिए उसमें वह सब सामग्री सन्निहित की जानी चाहिए, जिससे उसका व्यक्तित्व प्रकट हो सके। निबंध के व्यक्तित्व का विकास अपने देश में प्राचीन काल से ही हुआ है, परंतु वह एक भिन्न प्रकार का विकास है जो आधुनिक निबंध के साहित्यिक विकास से बहुत कम समता रखता है। प्राचीन संस्कृत परंपरा के अनुसार निबंध केवल बौद्धिक अभिव्यक्ति का साधन बनाया गया। भारत का सूक्ष्म दार्शनिक विश्लेषण और क्रमबद्ध वैज्ञानिक अभिव्यक्ति प्रसिद्ध है। इसी दार्शनिक विश्लेषण के लिए निबंध का प्रयोग किया गया, अतः उसकी शैली पूर्ण रूप से वस्तुप्रधान और कहीं कहीं जटिल तथा सूत्रबद्ध हो गई है। एक निश्चित विषय को लेकर उसके अंग अंग की मीमांसा ऐसे निःशंक रूप में की गई कि उसमें लेखक की व्यक्तिगत सत्ता की छाया छू भी न पाई। ऐसे निबंध स्वभावतः ही बुद्धि-विशिष्ट, रूक्ष और वैज्ञानिक कोटिक्रम से संयुक्त हुए। प्राचीन निबंधों की यह प्रमुख विशेषता है कि वे लौह आच्छद में जकड़े हुए परतंत्र रूप में प्रकट हुए जिनमें न्यायशास्त्र के हेतु, निगमन, दृष्टांत आदि सब शृंखलाबद्ध पद्धतियों की अवतारणा हुई। प्राचीन निबंधकार शुद्ध साहित्यिक कोटि में स्थान न प्राप्त कर सके। वे एक

प्रकार से विज्ञान की विश्लेषणात्मक कोटि में रख दिये गये। साहित्य की रसात्मकता का उनमें बहुत कुछ अभाव रहा, न तो उनमें व्यक्तित्व की कोई चमत्कार-पूर्ण मुद्रा दिखाई दी और न उनमें भावनाप्रधान शैली का प्रवेश ही हो पाया।

निबंध के इस स्वरूप की तुलना एक ओर आख्यायिका और दूसरी ओर गीत-कविता से की जा सकती है। आख्यायिका को एक विशेष समस्या या वस्तु-व्यापार पर आदि से अंत तक प्रकाश डालना पड़ता है। अतः टार्च-लाइट की भाँति उसकी शैली अधिक तीव्र और केंद्रीभूत होती है। निबंध की शैली में शैथिल्यपूर्ण वातावरण की ही प्रधानता रहती है। वह किसी विशेष दिशा की ओर अतिशय उद्युक्त होकर नहीं चलती। यह शैथिल्य—जिसमें आत्मीयता और सुकरता की ध्वनि भरी रहती है—निबंध की कलाजन्य विशेषता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि साधारण लेखकों की अपरिपुष्ट रचनाओं का सा शैथिल्य निबंध की विशेषता है और निबंध-लेखन का कार्य प्रारंभिक अथवा निम्न कोटि का साहित्यिक कार्य है। बात बिलकुल विपरीत है। वास्तव में निबंध की शिथिल शैली अत्यधिक प्रभावशाली होनी चाहिए। बौद्धिक विचारों की शुष्कता और दुरूहता को दूर करने के लिए निबंध-लेखकों का यह प्रधान साधन है जिससे वे पाठकों के हृदय को अपनी ओर लगा सकें। उन्हें शैथिल्यपूर्ण हलका वातावरण बनाना कला की दृष्टि से आवश्यक होता है।

निबंध के उपकरण

आख्यायिका-लेखक घटनाओं और पात्रों की योजना से आकर्षण संचित करता है। गीत-कविता में भावना की तन्मयता और व्यक्तिगत अभिव्यक्ति की आत्मीयता पाठकों को अपनी ओर खींचती है। निबंध-लेखक को ये सब सुविधाएँ आंशिक रूप से प्राप्त हैं। वह न तो काव्य की रसमयता का लाभ उठा सकता है, न मानवीय कथानक की सहानुभूति एकत्र कर सकता है। अतः वह इन दोनों के बीच में अपना स्थान बनाता और दोनों के उपकरणों का अंश-रूप में उपयोग करता है। इस दृष्टि से निबंध को आख्यायिका और गीत रचना के बीच की वस्तु कहा जा सकता है।

निबंध की कोटियाँ

सामयिक पत्रों के प्रकाशित होने के पश्चात् निबंधों की कई अन्य कोटियाँ भी प्रचलित हुईं। उनमें एक तो साहित्यिक आलोचना संबंधी निबंधों की कोटि है। उनमें विचारों की मौलिकता, क्रमबद्धता और विशद अभिव्यक्ति प्रधान रूप से प्रकट हुई है। व्यक्तिगत चिंतन का गुण पूर्ण रूप से इन लेखकों में मिलता है और यह निबंध-रचना का अनिवार्य गुण माना गया है। इसी विशेषता के कारण उक्त निबंध-लेखक साहित्य में आदृत स्थान प्राप्त कर सकता है। व्यक्तिगत विचारों का एक अनोखा आकर्षण होता है जो रसज्ञों पर अपनी मुद्रा अंकित किये बिना नहीं रहता। उन विचारों को व्यक्त करने में लेखक अपने व्यक्तित्व को भी प्रकट कर ही देता है। इस प्रकार निबंध के उस प्रधान स्वरूप की

झलक उनमें स्पष्ट रूप से मिलती है। वे यद्यपि विचारों को व्यक्त करते हैं परंतु उनके भीतर भावना का एक सूक्ष्म तंतु सदैव निहित रहता है। यही उनको निबंध की कोटि में महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी बनाता है।

इस काल के, दूसरी कोटि के निबंध-लेखकों में दो परस्पर-विरुद्ध वर्ग देखे जाते हैं। प्रधानतः यह विरोध आकार का विरोध है। इनमें से एक वर्ग बृहदाकार निबंध लिखकर सम्मुख आया और दूसरा अत्यधिक संक्षिप्त निबंध, टिप्पणियों या रेखा-चित्रों के रूप में, लेकर पहुँचा। बृहत्काय निबंध, पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। इनके लेखकों में मेकाले का नाम भारत में विशेष प्रसिद्ध है। मेकाले की शैली अत्यंत अतिशयोक्तिपूर्ण और चमत्कारिणी थी। उसकी शैली की विशेषता और आकर्षण इसी चमत्कार में है जो काल्पनिक विशिष्टता की द्योतक है। परंतु इस वर्ग के निबंध साहित्य में अधिक उत्कृष्ट स्थान न प्राप्त कर सके। इनका विरोधी वर्ग, जिसमें संक्षिप्त रेखाचित्र अंकित करने की पद्धति चली, सामयिक पत्रों में बराबर स्थान प्राप्त करता रहा और अब भी पा रहा है। इस वर्ग के निबंधकारों में आधुनिक काल के हेराल्ड लास्की की अच्छी ख्याति अँगरेजों तथा अँगरेजी जाननेवाले भारतीयों में है।

इनके अतिरिक्त कारलाइल, रस्किन तथा इमरसन आदि लेखकों की एक विशिष्ट कोटि निबंध-क्षेत्र में स्वीकार की गई है। ये अतिशय भावनामय और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के लेखक हो

गये हैं। इनमें से रस्किन तथा कारलाइल ने इँग्लैंड में तथा इमरसन ने अमेरिका में जन्म लेकर विश्वख्याति प्राप्त की है। इनकी शैली में भावुकता की मात्रा स्वभावतः अधिक है, परंतु वह अत्यंत उत्कृष्ट कोटि की मर्मस्पर्शिनी भावुकता है। वह भावुकता उनकी चित्तवृत्तियों के अंतरतम की पुकार सी विदित होती है। वह उस प्रकार की हलकी और सस्ती भावप्रवणता नहीं जो उपदेशकों और व्याख्यानदाताओं में देखी जाती है। वह गंभीर मानसिक उद्वेलन के फल-स्वरूप प्रकट हुई है, अतः उसमें व्यक्तिगत अनुभूति का पूर्ण वशीकरण वर्तमान है। मानसिक वृत्तियों के सूक्ष्म स्तरों में ये लेखक बड़ी मनोहारिणी गति से विचरण करते हैं, अतः इनकी उक्तियों में केवल शाब्दिक चमत्कार का आडंबर नहीं है। इनके निबंधों में उपदेश की अच्छी मात्रा होने के कारण यद्यपि कुछ लोग इन्हें उपदेशप्रधान और धार्मिक लेखक मानते हैं परंतु वास्तव में वे किसी रूढ़िबद्ध धार्मिक परंपरा के उपदेशक या पादरी कोटि के व्यक्ति नहीं थे। उनके लेखों में उच्च कोटि की साहित्यिक भाव-शबलता पाई जाती है।

ध्यान रखना चाहिए कि निबंधों का स्थान कलात्मक साहित्य में वहीं तक हो सकता है जहाँ तक उनमें कला के मौलिक गुण हों। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि सभी निबंधों में वे गुण नहीं होते। यों तो सभी उपन्यास या आख्यायिकाएँ भी कला की गिनती में नहीं जातीं, किंतु निबंधों की

अपेक्षा उनमें कलात्मक विशेषता यह होती है कि वे मानव-जीवन के व्यापारों, घटनाओं और परिस्थितियों को प्रस्तुत कर काव्य-जन्य आकर्षण उत्पन्न करते हैं। किंतु निबंध मुख्यतः बौद्धिक विश्लेषण पर स्थित होने के कारण ऐसा नहीं करते। तथापि उत्कृष्ट कोटि के निबंध साहित्य और कला की श्रेणी में आ सकते हैं।

४—मुक्तक काव्य

आधुनिक काल में एक नये प्रकार की गद्य-रचना का सूत्रपात हुआ है। उसमें भावों की विशिष्ट मानसिक अवस्थाओं अथवा कल्पित या प्राकृतिक बातों पर छोटे छोटे निबंध लिखे जाते हैं। इनकी विशेषता यही है कि इनकी भाषा भावों या विचारों के सर्वथा अनुकूल होती है। वर्तमान समय में पद्य में जो स्थान रहस्यवादी कविता का है वही स्थान गद्य में इन मुक्तक काव्यों का है। इसका आरंभ बंगाली साहित्य के आधार पर हुआ, पर अब ये स्वतंत्र होकर अपने अस्तित्व की साक्षी दे रहे हैं। इस प्रकार के गद्य-काव्यों का प्रचार दिनोंदिन बढ़ रहा है। इसका आरंभ 'अंतस्तल' नामक ग्रंथ से हुआ और अब तो अनेक लेखकों की उत्कृष्ट कृतियाँ देखने में आती हैं।

५—साहित्यिक आलोचना

कुछ विद्वानों ने आधुनिक काल में साहित्यिक आलोचना को भी गद्य-काव्य के अंतर्गत माना है। आलोचना चार प्रकार

की मानी गई है—(१) सैद्धांतिक आलोचना जिसमें साहित्य के विभिन्न रूपों के विवेचन द्वारा साहित्यिक सिद्धांतों की स्थापना होती है, (२) व्याख्यानक आलोचना जिसमें साहित्यिक रचनाओं का विश्लेषण और व्याख्या की जाती है, (३) निर्णयात्मक आलोचना जिसमें सामान्य सिद्धांतों के आधार पर रचनाओं के महत्त्व का निर्णय किया जाता है और (४) स्वतंत्र या आत्मप्रधान आलोचना जिसमें आलोचक आलोच्य विषय की विवेचना करता हुआ उसमें इतना तल्लीन या उससे इतना विमुख हो जाता है कि विवेचन को छोड़कर भाव-लहरी में बह चलता है। ये साहित्यिक आलोचनाएँ कला या काव्य की श्रेणी में आती हैं या नहीं, यह भी उन्हीं बातों पर अवलंबित है जिनका उल्लेख निबंधों के प्रसंग में किया गया है।

छठा अध्याय

रस और शैली

पाश्चात्य देशों में कला-विवेचन की परिपाटी भारतीय परिपाटी से भिन्न है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन दोनों परिपाटियों में तात्त्विक अंतर भी है। तात्त्विक अंतर नहीं है यह तो इतने से ही सिद्ध है कि सार्वजनीन काव्यानुभूति भारत में और पाश्चात्य देशों में एक-सी समादृत है। विदेशी काव्यों का हम और हमारे काव्यों का विदेशी समान रूप से (प्रादेशिक विशेषताओं को छोड़कर) आनंद लेते और उनकी प्रशंसा करते हैं। साथ ही वे अपनी पद्धति से जिन काव्यों को उच्च कोटि का ठहराते हैं, उन्हें हम भी अपनी पद्धति से वैसा ही पाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि प्रतिपादन की रीति में अंतर होते हुए भी दोनों पद्धतियाँ काव्य-कला के स्वरूप और उसके उत्कर्षापकर्ष के संबंध में प्रायः एकमत हैं। इस अध्याय में हम काव्य-कला की समीक्षा की भारतीय रस-परिपाटी का परिचय संक्षेप में करना चाहते हैं।

हम आरंभ में कह चुके हैं कि सब प्रकार के काव्यों में जीवन-व्यापार के निरीक्षण द्वारा जिस संचित सामग्री को कवि अपने कौशल की सहायता से काव्य-कला का रूप देता है, वह

बुद्धि-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और रागात्मक तत्त्व की आश्रित रहती है। हम यह भी बता चुके हैं कि बुद्धि-तत्त्व से हमारा

काव्य के उपकरण

अभिप्राय उन विचारों से है जिन्हें कोई लेखक या कवि अपने विषय के प्रतिपादन में प्रयुक्त करता है और अपनी कृति में अभिव्यक्त करता है। कल्पना-तत्त्व से हमारा अभिप्राय मन में किसी विषय का चित्र अंकित करने की शक्ति से है, जिसे कवि या लेखक अपनी कृति में प्रदर्शित करके पाठकों के हृदय-चक्षु के सम्मुख भी वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। रागात्मक तत्त्व से हमारा अभिप्राय उन भावों से है जो कवि या लेखक का काव्य-विषय स्वयं उसके हृदय में उत्पन्न करता है और जिनका वह अपनी कृति द्वारा अपने पाठकों के हृदय में संचार करना चाहता है। ये तीनों तत्त्व सब प्रकार के काव्य के—चाहे वह कविता हो—चाहे गद्य-काव्य हो, आधार, प्राण या अंतरात्मा हैं। इनके बिना काव्य अपना सहज, सुचारु और मनोमुग्धकारी रूप धारण नहीं कर सकता, चाहे उसमें बाहरी सज-धज या बनावट-सजावट कितनी ही अधिक और कितनी ही अच्छी क्यों न हो।

इन तीनों तत्त्वों का परस्पर बड़ा घनिष्ठ संबंध है; और काव्य में तो इनका ऐसा सम्मिश्रण हो जाता है कि इनका विश्लेषण करके इन्हें अलग अलग करना कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असंभव भी है। प्रायः देखने में आता है कि एक

ही पदार्थ के देखने पर हमारे मन में विचार, कल्पना तथा मनोवेगों की एक साथ उत्पत्ति होती है। यद्यपि ये तीनों बातें भिन्न भिन्न मानसिक क्रियाओं के व्यापारों के भिन्न भिन्न रूप हैं, पर कहाँ एक की समाप्ति होकर दूसरे का आरंभ होता है अथवा उनकी उत्पत्ति का क्रम किस प्रकार है, इसका निर्णय करना और एक विभाजक रेखा खींचकर उनकी सीमाएँ निर्धारित करना असंभव है।

मनोविज्ञान में बुद्धि को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। मानसिक कार्यों में इसकी प्रधानता रहती है। हमारे यहाँ इसे अंतःकरण की निश्चयात्मक वृत्ति माना है। इसे हम मन की चेतन शक्ति भी कह सकते हैं। इसी की सहायता से सब प्रकार के इंद्रिय-ज्ञान या मनोवेगादि का बोध होता है। जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है तब बुद्धि के ही द्वारा उसके संबंध के विचारों की उत्पत्ति होती है। मन बुद्धि द्वारा किसी ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तब उसके संबंध में अनेक प्रकार के भाव हमारे मन में अभिव्यक्त होते हैं। इन्हीं मानसिक भावों का नाम विचार है। प्रत्येक लेखक या कवि अपने विषय के प्रतिपादन में कुछ विचारों का प्रयोग करता है और उन्हें अपनी कृति में अभिव्यक्त करता है। विचारों की श्रेष्ठता ध्यान देने योग्य है। कवि या लेखक को इनके द्वारा समाज का हित करने की ओर सदा दत्तचित्त रहना चाहिए। पर यह तभी संभव है जब वह स्वयं परि-

बुद्धि

मार्जित, संस्कृत और उच्च विचारों का केंद्र हो और अपने पाठकों के मन में उन विचारों का संचार करके उन्हें उच्च भावों से परिपूर्ण तथा उसके कारण आनंदित कर सके। काव्य में बुद्धि-तत्त्व का यही उद्देश्य है और इसी को काव्य में सुचारु रूप से सुव्यवस्थित करने में कवि या लेखक का कौशल तथा उसकी महत्ता अभिव्यक्त होती है।

काव्य का दूसरा तत्त्व कल्पना है। दार्शनिकों ने सब प्रकार के ज्ञान की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं—परिज्ञान, स्मरण, कल्पना, विचार और सहज ज्ञान। सबसे पहले हमें बाह्य पदार्थों का ज्ञान अपनी ज्ञानेंद्रियों अर्थात् आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा से होता है।

कल्पना तत्त्व

जब हम किसी मनुष्य के सामने जाते हैं तब हमारे नेत्रों के द्वारा उस मनुष्य का प्रतिबिंब हमारे मन पर पड़ता है। जब तक हम उस मनुष्य को देखते हैं तब तक वह प्रतिबिंब स्पष्ट रहता है, परंतु जब हम नेत्र बंद कर लेते हैं तब वह प्रतिबिंब विलीन हो जाता है। इस प्रकार के ज्ञान को "परिज्ञान" कहते हैं। यदि हमने उस मनुष्य को ध्यान से देखा है, तो पीछे से आवश्यकता पड़ने पर "स्मरण" शक्ति की सहायता से हम उस मनुष्य के रूपादि का कुछ ध्यान कर सकते हैं; परंतु फिर भी पहले की नाईं स्पष्ट चित्र हमारे सामने नहीं आ जाता। यदि हम उसी मनुष्य को बार बार देखें और ध्यान से उसके प्रत्येक अंग की बनावट तथा उसके रूपादि को अपने मन में बैठा लें, तो फिर हमारी स्मरण-

शक्ति कुछ अधिक सहायता कर सकती है और हमारे मन में उस व्यक्ति का एक स्पष्ट चित्र सा बन जाता है। यह कार्य मन की स्मरण-शक्ति के द्वारा संपन्न होता है।

मान लीजिए कि उक्त मनुष्य, जिसका हमें पहले पहल आँखों द्वारा परिज्ञान हुआ और जिसका चित्र हम अपने मन पर स्मरण-शक्ति द्वारा खचित कर सके हैं, एक अँगरेज़ है। हमने एक संन्यासी को भी देखा है और हमें उस संन्यासी के रूप, आकार तथा उसके वस्त्रों के रंग का स्मरण है। अब यदि हम चाहें तो अपने मन में उस अँगरेज़ का सूट, बूट छीनकर उसे संन्यासी का गेरुआ वस्त्र पहना सकते हैं; और तब हमारी मानसिक दृष्टि के सामने एक अँगरेज संन्यासी का चित्र उपस्थित हो जाता है। हमने बाह्य जगत् में केवल एक साधारण अँगरेज तथा एक संन्यासी को देखा; हमारी ज्ञानेंद्रियों ने हमें उनका तद्रूप बोध कराया और स्मरण-शक्ति ने उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं को मन में अंकित कर लिया। इसके अनंतर मन की एक विशेष क्रिया से स्मरण-शक्ति द्वारा संचित अनुभवों को विभक्त कर और फिर उनके पृथक् पृथक् भावों को इच्छानुसार जोड़कर हमने मन में एक नवीन व्यक्ति की रचना कर ली, जिसका अस्तित्व बाह्य जगत् में नहीं है, परंतु जिसका बाह्य जगत् से स्वतंत्र चित्र हमारे मन में रहता है। मन की इस क्रिया को "कल्पना" कहते हैं। जो उदाहरण हमने दिया है वह साधारण कल्पना का है। उसके आगे उस कल्पना का

प्रादुर्भाव होता है जिसे 'मन की तरंग' कहते हैं। मनोरागों का अस्तित्व भी इसका प्रधान लक्षण है। इन्हीं रागों के द्वारा यह कल्पना उत्तेजित होती है और काव्यों के द्वारा आनंद का उद्रेक करने में सहायक बनती है। जब यह कल्पना और उत्तेजित होती जाती है तब वह अपनी बिलकुल नई सृष्टि खड़ी करने में भी समर्थ होती है। यह कल्पना-शक्ति की पराकाष्ठा है। इसी की सहायता से बड़े बड़े काव्य रचने में प्रतिभाशाली लेखक और कवि समर्थ होते हैं। विधायक कल्पना ही संसार में नये नये वैज्ञानिक आविष्कारों को संभव कर दिखाती है और संसार का ज्ञान बढ़ाती है।

कल्पना का आनंद दो प्रकार का होता है। एक तो वह आनंद है जो पदार्थों के वास्तविक अवलोकन तथा निरीक्षण द्वारा प्राप्त होता है। जब हम किसी खुले हुए समतल मैदान, विस्तृत रेगिस्तान, आकाशचुंबित पर्वतमाला, ऊँची ऊँची चट्टानों, विपुल जलराशि आदि को देखते हैं, तब हमारे मन में एक विशेष प्रकार का आनंद उत्पन्न होता है। यदि इन पदार्थों में नवीनता, असाधारणता या सुंदरता भी वर्तमान हो तो हमारे आनंद की मात्रा और बढ़ जाती है। दूसरा आनंद वह है जो ऐसे पदार्थों से उद्भूत होता है जिनको हमारी आँखों ने एक बार देखा है और जो हमारे मन में फिर से स्मरण-शक्ति की सहायता से उपस्थित होते हैं। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे ठीक वैसे ही पदार्थ हों जो हमें पहले आनंद देनेवाले

हो चुके हैं। हमारी कल्पना में वह शक्ति है कि जिन पदार्थों को हम एक बार देखकर आकृष्ट हो चुके हैं, उन्हें हमारी कल्पना अपनी रुचि के अनुसार घटा बढ़ाकर या परिवर्तित करके हमारी मानसिक दृष्टि के सम्मुख उपस्थित करे और इस प्रकार हमें अपनी स्वतंत्र सृष्टि का अनुभव करावे।

इस प्रकार हमारी कल्पना-शक्ति हमारे पूर्वसंचित अनुभवों के सम्मिश्रण से एक मनोहर चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करती है और कवि या लेखक अपनी शाब्दिक शक्ति से उस चित्र का ऐसा सुंदर वर्णन करता है जो हमारे मन को मुग्ध कर लेता है और हम पर ऐसा प्रभाव डालता है कि हम उसे काल्पनिक न समझ-कर वास्तविक समझने और मानने लगते हैं। अतएव कवि या लेखक के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वह अपने काल्पनिक वर्णन में अस्वाभाविकता न आने दे। हम यह बात पहले लिख चुके हैं कि जब कल्पना अत्यंत उत्तेजित होकर नई सृष्टि के निर्माण में लग जाती है और उस सृष्टि का वर्णन कवि या लेखक अपनी मनोहर भाषा में करता है, तब वह काव्य-कला की सहायक होकर उसे उत्कृष्ट बनाने में समर्थ होती है। अतएव पहले साधारण कल्पना उद्भूत होती है; फिर वह मन की तरंग का रूप धारण करती और अंत में विधायकता से संपन्न कवि-कल्पना का रूप धारण करती है। काव्यों में मन की इन्हीं तरंगों और विधायक कल्पना का विशेष रूप से प्रयोग होता है। मन की तरंगों के उदाहरण तो

उत्कृष्ट काव्य में पद पद पर मिलते हैं; पर विधायक कल्पना में विशेष कौशल की आवश्यकता होती है। इसके उदाहरण संस्कृत में मेघदूत काव्य तथा हिंदी में कवि मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावत' है।

काव्य का तीसरा तत्त्व मनोवेग है जिन्हें साधारणतः भाव कहते हैं। भाव मन में उत्पन्न होनेवाले ऐसे विशेष प्रकार के

मनोवेग या भाव

विकार नहीं हैं, जो कभी उत्पन्न हों और कभी न हों। वे मानसिक जीवन के अंग-स्वरूप होकर उसमें सदा व्याप्त रहते हैं। मन में उठी हुई कोई ऐसी तरंग ही नहीं है जिसमें भावों का लेश न हो; अथवा हम यों कह सकते हैं कि वास्तव में कोई ऐसा ज्ञान ही नहीं है जो भाव-रहित हो। इस संसार में जो कुछ ज्ञान हम प्राप्त करते हैं वह भावों ही के द्वारा होता है। हमारा यह विचार कि "यह विद्या हमारी है" एक भाव है। इसी भाव के कारण "हम" और "तुम" का विभेद माना जाता है। भावों में एक बड़ी विशेषता यह होती है कि मनुष्य स्वयं तो भावों का अनुभव करता है; परंतु यदि कोई दूसरा व्यक्ति उन्हीं भावों के कुछ अंशों का अनुभव करना चाहे तो यह सर्वथा असंभव है। भाव प्रत्येक व्यक्ति की अंतरात्मा का एक विशेष धर्म है। अतएव शब्दों की सहायता से इस बात का वर्णन करना असंभव है कि वास्तव में भाव क्या हैं। मनुष्य केवल उनका अनुभव कर सकता है, परंतु उनके वास्तविक स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकता।

भाव कितने प्रकार के हैं अथवा किस प्रकार से अभिव्यक्त होते हैं, इन बातों का निश्चय करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि मन क्या वस्तु है; क्योंकि भाव का संबंध वास्तव में मन से है। मन अंतरात्मा की एक कार्यकारिणी शक्ति है। अतएव भाव इसी कार्यकारिणी शक्ति का एक विकार मात्र है। इस शक्ति का परिचालन दो ओर होता है—एक सुख की ओर और दूसरा दुःख की ओर। इन दोनों के बीच में सम भावों का भी परिचालन होता है। सुख के भाव मनुष्य को अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर करते हैं और दुःख के भाव, इसके विपरीत कार्य की गति को रोकने का प्रयत्न करते हैं।

भावों के प्रकार

मन में अनेक प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। इन्हीं इच्छाओं से प्रेरित होकर मनुष्य अनेक लक्ष्यों को अपने सामने रखकर तथा उन लक्ष्यों तक पहुँचकर संतुष्टि प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मनुष्य की जितनी इच्छाएँ होती हैं उतने ही प्रकार के भाव भी होते हैं; पर इच्छाओं की गिनती असंख्य होने के कारण भावों की गिनती का भी ठिकाना नहीं है।

विचार करने पर हम भावों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। सबसे पहले हमें स्थूल शरीर की ओर ध्यान देना चाहिए। मन की रचना ऐसी अद्भुत है कि शरीर के किसी अंश में किसी प्रकार का विकार होते ही आत्मा की भावुकता के कारण चट उसका संवाद मन तक पहुँच जाता है।

स्वयं मानव-शरीर में जब किसी बात की आवश्यकता होती है, तब उसका भी संवाद मन तक पहुँच जाता है और मन उस आवश्यकता को पूरा करने के प्रयत्न में अपनी शक्ति लगाने लग जाता है। उन आवश्यकताओं के पूर्ण हो जाने पर आनंद होता है और पूर्ण न होने की अवस्था में दुःख का आविर्भाव होता है। इस प्रकार स्थूल शरीर से संबंध रखनेवाले भावों को हम प्रथम श्रेणी में स्थान देते हैं। मनोविज्ञानवेत्ता इस प्रकार के भावों को इंद्रिय-जनित भाव कहते हैं।

मन की दूसरी शक्ति वह है जिसके द्वारा वह संसार के सब अनुभवों को एकत्र करके उनसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस ज्ञान से संबंध रखनेवाले जितने भाव हैं, उन्हें हम दूसरी श्रेणी में रखते हैं। ऐसे भावों की संज्ञा प्रज्ञात्मक भाव है।

मन अपनी तीसरी शक्ति के द्वारा मनुष्य के विचारों को एकत्र करके किसी विशेष लक्ष्य का स्वरूप खड़ा करने अथवा उस लक्ष्य को पूर्ण या प्राप्त करने में यत्नशील होता है। मन की इस शक्ति से जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें हम तीसरी श्रेणी में स्थान देते हैं और उन्हें गुणात्मक भाव कहते हैं।

फिर भाव वास्तव में दो प्रकार के होते हैं—एक सामान्य और दूसरे परिवर्धित, उद्दीप्त या तीव्र। इन्हीं परिवर्धित, उद्दीप्त या तीव्र भावों को मनोवेग या राग कहते हैं। राग किसी वस्तु-विशेष या आलंबन पर ही निर्भर रहता है; परंतु

सामान्य भाव के लिए किसी आलंबन की आवश्यकता नहीं होती। किसी की चिल्लाहट से चौंक पड़ना या किसी के दुःख से विषादयुक्त होना सामान्य भाव है। पर किसी में प्रीति या घृणा होना व्यक्ति या वस्तु-विशेष पर निर्भर रहता है। इसलिए जितने प्रकार के आलंबन होंगे, उतने ही प्रकार के रागात्मक भाव भी होंगे। एक झाड़ू के संबंध में हमारा जो भाव होगा वही भाव गुलाब के एक फूल के संबंध में नहीं होगा; कारागृह के संबंध में हमारा जो भाव होगा वह उद्यान के लिए नहीं होगा। इसका कारण यही है कि अंतरात्मा से प्रत्येक आलंबन का संबंध भिन्न भिन्न प्रकार का होगा और इन्हीं आंतरिक संबंधों के अनुसार हमारे भाव होंगे।

रस-निरूपण

रसों की व्याख्या भावों पर अवलंबित है। भावों में चित्त की एकाग्रता विशेष रूप से रहती है। वह एकाग्रता साधारण ज्ञान में नहीं पाई जाती। भावों की स्थिति में मानसिक क्रिया अत्यंत तीव्र हो जाती है। भावों की क्रिया-संचालन-शक्ति भी ज्ञान की संचालन-शक्ति से कहीं अधिक होती है। धर्म, अर्थ और काम सभी में भावों से काम चलता है। अर्थात् भावों की प्रधानता धर्म में ही नहीं, वरन् राजनीति, समाजशास्त्र और विज्ञान में भी है। दूसरे शब्दों में सृष्टि के सभी विषय भावाकार हो जाते हैं। काव्य-कला में इन्हीं भावों का चित्रण ऐसे माध्यमों को लेकर होता है। ऐसा वस्तु-विन्यास, ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो

रस का अर्थ है आस्वाद्य—जैसे भोज्य और पेय पदार्थों का स्वाद लिया जाता है वैसे ही काव्य-रस का भी स्वाद लिया जाता है। जिस काव्य में, चाहे वह दृश्य काव्य हो अथवा श्रव्य, यह आस्वाद न मिले वह सफल नहीं हो सकता। भरत मुनि के अनुसार कोई काव्यार्थ रसहीन होना ही न चाहिए।

रस-रहस्य

इसी से रस काव्य का एक आवश्यक तत्त्व माना जाता है। पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि रूपक रसों के आश्रित होते हैं। यही कारण है कि नाट्य-शास्त्र में भी रस को इतना महत्त्व दिया गया है।

भरत मुनि के अनुसार रसों के आधार भाव हैं। भाव मन के विकारों को कहते हैं। ये वाणी, अंग-रचना और अनुभूति के द्वारा काव्यार्थों की भावना कराते हैं। इसी लिए इनको भाव कहते हैं। गहराई की न्यूनाधिक मात्रा के अनुसार भाव दो प्रकार के होते हैं। जो छोटी छोटी तरंगों की भाँति उठकर थोड़े ही समय में विलीन हो जाते हैं, वे संचारी भाव कहाते हैं। इन्हीं को व्यभिचारी भाव भी कहते हैं। इसके विपरीत जो भाव रस का आस्वादन होने तक मन में ठहरे रहते हैं और उसे निमग्न कर डालते हैं वे स्थायी भाव कहलाते हैं। जब तक स्थायी भाव मन में रहता है, तब तक उसी का प्राधान्य रहता है। और भाव, चाहे वे सजातीय हों या विजातीय, केवल उसके

भाव

पोषक होकर आ सकते हैं, उससे बढ़ नहीं सकते। उन सब को उसी के रूप में ढल जाना पड़ता है। जिस प्रकार खारे समुद्र में गिर जाने से सब वस्तुएँ नमकीन बन जाती हैं उसी प्रकार स्थायी भाव के मेल में सब भाव उसी के रूप को ग्रहण कर लेते हैं। स्थायी भाव ही रस के लिए मूल आधार प्रस्तुत करते हैं, संचारी तो केवल स्थायी भाव को पुष्ट करने के उद्देश्य से थोड़े ही समय तक संचरण कर चले जाते हैं।

संचारी भाव तंतीस हैं। परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि इतने ही में इनकी समाप्ति है। प्राचीन आचार्यों ने काव्यों में इतने ही संचारियों को पाया, अतएव उन्होंने इतने ही का उल्लेख किया है। परंपरा-पालन की प्रवृत्ति के कारण आगे के आचार्य भी तेंतीस की ही संख्या से बँधे रहे और यदि किसी को कोई अन्य संचारी सूझे भी तो उनको इन्हीं तेंतीस में से किसी के अंतर्गत लाकर ठूँस देने की व्यवस्था कर दी गई। मात्सर्य, उद्वेग, दंभ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कंठा, धृष्टता आदि भावों का भी संचारित्व देखने में आता है। परंतु रसतरंगिणी-कार की सम्मति है कि इन्हें असूया, त्रास, अवहित्था, अमर्ष, मति (विवेक और निर्णय दोनों की), धृति, औत्सुक्य और चपलता के अंतर्गत समझना चाहिए। केवल देव कवि ने हिंदी में छल को अलग ही चौंतीसवाँ संचारी माना है।

यद्यपि स्थायी भाव ही रस के प्रधान निष्पादक हैं, किंतु उनके रस अवस्था तक पहुँचने के लिए पहले उनका जागरित

तथा उद्दीप्त होना आवश्यक है। विभावों के द्वारा यह कार्य संपन्न होता है। वे ही भाव में आस्वाद-योग्यता के अंकुर उत्पन्न करते हैं। जो विभाव भाव को जगाते हैं उन्हें आलंबन कहते हैं और उद्दीप्त अथवा तीव्र करनेवाला विभाव उद्दीपन कहलाता है। सुंदर पुष्पित और एकांत उद्यान में शकुंतला को देखकर दुष्यंत के हृदय में रति-भाव जागरित होता है। यहाँ पर शकुंतला आलंबन विभाव है और कुसुमित तथा एकांत उद्यान उद्दीपन विभाव। विभावों के बिना कोई भी भाव उदित नहीं होता। स्थायी भाव के ही लिए नहीं, संचारी भावों के उदय होने के लिए भी विभावों की अपेक्षा होती है। इस दृष्टि से संचारी और स्थायी भाव में इतना ही भेद है कि संचारी भाव के लिए स्वल्प विभाव ही पर्याप्त होते हैं, परंतु स्थायी भाव के उदय के लिए अल्प सामग्री से काम नहीं चलता। उसके लिए विभावों का बढ़ा-चढ़ा होना आवश्यक है।

विभाव

आंतरिक भावों का बाहरी आकृति आदि पर प्रभाव पड़ता है। रति-भाव के उदय होने से चेहरे की कांति बढ़ जाती है, क्रोध के उदय होने पर होंठ काँपने लगते हैं, आँखें लाल और भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं। इसी प्रकार और भावों में भी बाह्य लक्षण दिखाई देते हैं। इन लक्षणों को अनुभाव कहते हैं। अनुभाव का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही 'भाव के पीछे होनेवाला' है। भाव कारण और अनु-

अनुभव

भाव कार्य है। अनुभावों के द्वारा भाव की सूचना मिलती है। जैसा कह चुके हैं, विभाव भाव को अंकुरित करता है परंतु अनुभाव उसे आस्वाद-योग्य बना देता है। नायक है, नायिका भी है, वसंत ऋतु में कुसुमित कुंज और निर्जनता भी है। परिस्थिति नायक-नायिका में रति-भाव के उदय के लिए अनुकूल है। परंतु इतने ही से हम इस परिणाम पर नहीं पहुँच सकते कि उनमें रति-भाव का उदय हो ही गया। यह निश्चय तभी हो सकता है जब हम देखें कि नायक ठक सा रह गया है अथवा उसका हृदय धड़कने लगा है, शरीर में कंप हो आया है, आँखें ललचाई हुई हैं, इत्यादि; या नायिका लजीली दृष्टि से छिप छिपकर उसकी ओर देख रही है अथवा उसे अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए कोई उपाय कर रही है। अनुभावों से नायक नायिका को एक दूसरे के भावों को जानने में सहायता मिलती ही है, जिससे रति-भाव पुष्ट होता जाता है, परंतु इससे अधिक महत्त्व अनुभावों का प्रेक्षक की दृष्टि से है; क्योंकि उन्हीं के द्वारा स्थायी भाव रस का रूप प्राप्त कर उसके हृदय में आस्वाद के रूप से आविर्भूत होता है।

अनुभाव तीन प्रकार के होते हैं—कायिक, मानसिक और सात्त्विक। स्थायी भाव के कारण उत्पन्न हुए अन्य भाव अथवा मनोविकार को मानसिक अनुभाव कहते हैं तथा आंतरिक अनुभूति के सूचक शारीरिक लक्षण कायिक अनुभाव कहाते हैं। यही अनुभाव जब मन की अत्यंत विह्वलकारी दशा से उत्पन्न होते हैं तब सात्त्विक कहलाते हैं।

वैसे तो अनुभावों की गिनती नहीं हो सकती, परंतु सात्त्विक अनुभावों की संख्या आचार्यों ने निश्चित कर दी है। सात्त्विक अनुभावों के आठ भेद होते हैं—स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वर-भंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

विभाव, अनुभाव, संचारी भाव तथा स्थायी भाव का वर्णन हो चुका। यही सब सामग्री है जिसके द्वारा रस का संचार होता है। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि रस के मूल आधार स्थायी भाव हैं और विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव स्थायी भाव को रस की अवस्था तक पहुँचाने में सहायक होते हैं। स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि वह कौन प्रक्रिया है जिससे रस का परिपाक होता है और इस सामग्री से उसका क्या संबंध है। भरत मुनि ने तो सीधे-सादे ढंग से इतना ही लिख दिया है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। परंतु इससे उस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता; क्योंकि 'संयोग' और 'निष्पत्ति' से भरत मुनि का क्या तात्पर्य है, यह ठीक ठीक नहीं विदित होता। भिन्न भिन्न आचार्यों ने इनसे भिन्न भिन्न अर्थ निकाले जिससे रस के संबंध में कई सिद्धांत चल पड़े।

भट्ट लोल्लट ने कहा—निष्पत्ति से भरत का अभिप्राय था उत्पत्ति और संयोग से संबंध।[1] उनके अनुसार विभाव कारण थे और रस उनके कार्य। रस वस्तुतः नायक आदि पात्रों में

उत्पन्न होता है। नट वेष-भूषा, वाणी, क्रिया आदि से उनका अनुकरण करता है जिससे उनमें भी रस की प्रतीति होती है और प्रेक्षक या पाठक चमत्कृत होकर आनंदित हो जाते हैं। पर उनके हृदय में रस वस्तुतः होता नहीं है।

भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद

उत्पत्तिवाद से असंतुष्ट होकर श्री शंकुक अपने अनुमितिवाद को लेकर आगे आये। उन्होंने भरत के 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमिति माना। उनके अनुसार विभाव अनुमापक हैं और रस अनुमाप्य। इन्हीं को गम्य और गमक भी कहते हैं। नायक में स्थायी भाव का अस्तित्व रहता ही है। विभाव, अनुभाव आदि से, जिनको वह बड़ी कुशलता से अभिनय करके दिखाता है, नट में भी उसका अनुमान कर लिया जाता है, यद्यपि उसमें रस का अस्तित्व नहीं रहता। बात यह है कि प्रेक्षक उस निपुण अभिनेता नट को ही नायक समझ लेता है। इस सुखद भ्रम में पड़कर उसे नायक के भावों का अनुमान हो जाता है। इस अनुमान के द्वारा प्रेक्षक जब इस भाव को समझने लगता है तब उस भाव के सौंदर्य के कारण वह चमत्कृत हो जाता है और उसे एक प्रकार का अलौकिक आनंद मिलता है। यही आनंद स्वाद या रस है। चित्रतुरंग न्याय के अनुसार (जैसे चित्र के घोड़े को लोग घोड़ा ही कहते हैं उसी प्रकार) प्रेक्षक अभिनेता को नायक

श्री शंकुक का अनुमितिवाद

समझता है और नायक की मनोवृत्तियों का उसमें आरोप कर स्वयं रसास्वाद करता है।

भट्टनायक ने प्रेक्षक के हृदय में रस की अवस्थिति मानी है। उनके अनुसार स्थायी भाव से रस बनने तक की प्रक्रिया में तीन शक्तियों का हाथ रहता है। ये शक्तियाँ हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा के द्वारा काव्य के सामान्य और आलंकारिक अर्थों का ज्ञान होता है। भावकत्व के द्वारा विभाव, अनुभाव आदि व्यक्ति-संबंध से मुक्त होकर साधारण अर्थात् मनुष्य मात्र के अनुभव के योग्य बन जाते हैं। उनमें कोई विशेषता नहीं रहने पाती। प्रेक्षक के हृदय में यह ज्ञान नहीं रहता कि यह दुष्यंत की स्त्री शकुंतला है; वह उसको स्त्रीमात्र समझता है। इसी प्रकार दुष्यंत पुरुष मात्र रह जाता है। व्यक्तित्व, देश, काल आदि विशेषताएँ दूर हो जाती हैं। इसका फल यह होता है कि स्थायी भाव मनुष्य मात्र के द्वारा भोग किये जाने के योग्य हो जाता है, साधारण हो जाता है। यहाँ संयोग का अर्थ सम्यक् अर्थात् साधारण रूप से योग अर्थात् भावित होना है। जिस क्रिया के द्वारा इस प्रकार साधारणीकृत स्थायी भाव का रस रूप में भोग होता है उसे भोजकत्व कहते हैं। यह भोग ही निष्पत्ति है। रस के संबंध में जब 'भोग' का प्रयोग किया जाता है तब उसे सांसारिक अर्थ में नहीं समझना चाहिए। भोग के द्वारा रजस् और तमस् गुण निवृत्त होकर

भट्टनायक का मुक्तिवाद

सत्त्व गुण की वृद्धि होती है, जिससे आनंद का प्रकाश होता है। यही आनंद रस है, जिसका भोग करते हुए मनुष्य, थोड़ी देर के लिए, सांसारिक बंधनों से निर्मुक्त होकर सार्वभौम चैतन्य जगत् में प्रवेश पा जाता है। इसी से वह आनंद ब्रह्मानंद-सहोदर कहलाता है। ब्रह्मानंद और काव्यानंद (रस) में इतना ही भेद है कि ब्रह्मानंद तो सांसारिक विषयों से विरत होने पर होता है और नित्य है, परंतु काव्यानंद विषयों से उद्भूत होता है और थोड़े ही समय तक रहता है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

इस सिद्धांत पर यह आपत्ति हुई कि काव्य की तीन शक्तियों को मानने के लिए कोई आधारभूत प्रमाण नहीं है। जिन बातों के लिए युक्तियुक्त नियम प्राप्त हो सकते हैं उनके लिए अप्रमाणित सिद्धांत का प्रचलन उचित नहीं। भट्टनायक के सिद्धांत की विशेषता इसी में है कि उन्होंने भावकत्व और भोजकत्व ये दो नई क्रियाएँ मानी हैं। अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार इन दोनों क्रियाओं का काम व्यंजना और ध्वनि से चल जाता है। भावकत्व तो भावों का अपना गुण है ही। भरत मुनि ने इसी लिए कहा है कि 'काव्यार्थान् भावयंतीति भावाः' जो काव्यार्थों को भावना का विषय बनावें वे भाव होते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार काव्यार्थ का यहाँ वह मुख्य अर्थ है जिसमें काव्य का आनंद निहित रहता है। संचारियों से पुष्ट होकर स्थायी भाव ही आस्वादयुक्त काव्यार्थ के अस्तित्व के कारण

होता है। अतएव वही काव्यार्थ रस का भावक है; क्योंकि उसी से रस व्यंजित होता है। रस का भोग भी आस्वाद के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं। रस में भोग का भाव पहले ही से विद्यमान है। 'आस्वाद्यत्वाद्रसः'—रस वही है जिसका आस्वाद हो सके, भोग हो सके। अतएव भोजकत्व को भी अलग शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि वह ध्वनि के द्वारा संपन्न हो जाता है। इसी लिए संयोग का अर्थ है ध्वनित या व्यंजित होना और निष्पत्ति का अर्थ हुआ आनंद रूप में प्रकाशित होना।

परंतु रस की अभिव्यक्ति होती कैसे है? बात यह है कि मनुष्य भिन्न भिन्न परिस्थितियों में पड़कर जिन भावों का अनुभव करता है वे, वासना रूप में, उसके हृदय में स्थिर हो जाते हैं। इस प्रकार स्थायी भाव वासना-रूप में पहले ही से उसके हृदय में विद्यमान रहते हैं। केवल बात इतनी है कि इस रूप में उनका अनुभव मनुष्य को नहीं होता; क्योंकि उनके विषय में आत्मा पर अज्ञान का आवरण छाया रहता है। निपुण अभिनय के द्वारा विभावानुभाव के प्रदर्शन से अज्ञान का आवरण हट जाने पर वे अभिव्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मानंद के प्रकाश में जब उनका अनुभव होता है तब वे रस कहे जाते हैं। या यह भी कह सकते हैं कि विभावानुभाव के प्रदर्शन पूर्वसंस्कार को उत्तेजित कर प्रेक्षक को इतना तन्मय बना देते हैं कि उसकी चित्तवृत्ति आनंदमय हो जाती है। यही रसास्वादन है। चाहे जिस तरह लीजिए, स्थायी भाव और

चैतन्य के योग से ही रस की प्रतीति होती है। किंतु रस की अनुभूति तब तक संभव नहीं, जब तक कि वासना रूप संस्कार हृदय में पहले ही से विद्यमान न हों। जिस मनुष्य के हृदय में ये वासना रूप संस्कार होते हैं वह सहृदय कहलाता है। मनुष्य सहृदय तीन प्रकार से हो सकता है—सांसारिक अनुभव से, पूर्वजन्म के संस्कारों से और अभ्यास से। जिनको न सांसारिक अनुभव है, न जिनके पूर्व जन्म के संस्कार हैं और जो इस जन्म में भी साहित्य-शास्त्र इत्यादि के अनुशीलन के द्वारा अभ्यास नहीं करते वे सहृदयों की श्रेणी में नहीं आते और रसास्वादन से वंचित रहते हैं। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आत्मानंद के प्रकाश में स्थायी भाव की जो रस-रूप आनंदानुभूति होती है उसमें भी लौकिकता नहीं रह जाती। सब वैयक्तिक संबंधों से मुक्त होकर निर्विशेष रूप से प्रेक्षक को उसकी अनुभूति मिलती है। इसी लिए उसे ब्रह्मानंद-सहोदर कहा जाता है।

यद्यपि रस का आनंद विषय-जन्य है, तथापि विषयानंद से उसका कोई संबंध नहीं। इसी लिए उसे ब्रह्मानंद-सहोदर कहा है। रस का आस्वादन करते हुए मनुष्य अपने आपको भूल जाता है। वह अपने आपको मनुष्य-जाति से अलग व्यक्ति-विशेष नहीं समझता वरन् मनुष्य मात्र होकर उसका अनुभव करता है।

प्रश्न उठ सकता है कि स्थायी भाव, विभावानुभाव आदि लौकिक वस्तुओं से अलौकिक रस का उदय किस प्रकार संभव

है। इसके उत्तर में शास्त्रकार यही कहा करते हैं कि जिस प्रकार मिस्री, मिर्च, कर्पूरादि के संयोग से तैयार होनेवाले पान (शर्बत) के रस का स्वाद इन सब वस्तुओं से विलक्षण होता है, उसी प्रकार इन लौकिक पदार्थों से भी अलौकिक रस का आविर्भाव होता है।

ऊपर अभिनवगुप्ताचार्य का जो मत दिया गया है, पीछे के नाट्य-शास्त्रकारों ने उसे ही स्वीकार किया है। स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के योग से आस्वादन करने योग्य हो जाता है तब सहृदय प्रेक्षक के हृदय में रस रूप से उसका आस्वादन होता है। भाव के अनुभव और उसके रसास्वादन में भेद है। अनुभव में भाव की सुख-दुःख-पूर्ण प्रकृति के अनुसार अनुभवकर्ता को भी सुख-दुःख होता है, परंतु उसका आस्वादन इनसे रहित है। इसकी अवस्थिति इस मत के अनुसार न नायक में मानी जा सकती है और न नट में; क्योंकि रस तो वर्त्तमान वस्तु है और नायक भूतकाल में था, वर्तमान में नहीं है और नट का कार्य तो नायक आदि के अभिनय से अनुकरण मात्र करना है। वह तो केवल विभाव आदि को प्रेक्षक के सामने प्रदर्शित भर कर देता है। रस की अवस्थिति सहृदय प्रेक्षक में है। प्रेक्षक में भी स्थायी भाव आदि के ज्ञान मात्र ही से रस उत्पन्न नहीं होता।

यह ज्ञान सामान्य ज्ञान से भिन्न होता है, अतः प्रेक्षक, श्रोता अथवा पाठक के हृदय में जो रसानुभूति होती है उसकी प्रक्रिया

समझने के लिए मधुमती भूमिका और पर-प्रत्यक्ष को पहले समझ लेना चाहिए।

"मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का संबंध और वस्तु के संबंधी इन तीनों के भेद का अनुभव करना ही वितर्क है। जैसे, "यह मेरा पुत्र है" इस वाक्य से पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्य-जनक संबंध और जनक होने के नाते संबंधी पिता इन तीनों की पृथक् पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपर-प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में संबंध और संबंधी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तु मात्र का आभास मिलता रहता है, उसे परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं, जैसे, पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलंबन हो सकता है। चित्त की यह समापत्ति सात्त्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है। रजोगुण की प्रबलता भेद बुद्धि और तत्फल दुःख का तथा तमोगुण की प्रबलता अबुद्धि और तत्फल मूढ़ता का कारण है। जिसके दुःख और मोह दोनों दबे रहते हैं, सहायकों से शह पाकर उभरने नहीं पाते, उसे भेद में भी अभेद और दुःख में भी सुख की अनुभूति हुआ करती है। चित्त की यह अवस्था साधना के द्वारा भी लाई जा सकती है

मधुमती-भूमिका और पर-प्रत्यक्ष

और न्यूनातिरिक्त मात्रा से सात्त्विकशील सज्जनों में स्वभावतः भी विद्यमान रहती है। इसकी सत्ता से ही उदार सज्जन वसुधा को अपना कुटुंब समझते हैं और इसके अभाव से क्षुद्र-चित्त व्यक्ति अपने पराये का बहुत भेद किया करते हैं और इसी लिए दुःख पाते हैं; क्योंकि "भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति"।

साधारणीकरण

जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर-प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनंदनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परंतु जिस समय हमें वस्तुओं का पर-प्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय अथवा अभिनंदनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलंबन बनकर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मता छोड़कर अलौकिक सुखात्मता धारण कर लेते हैं। यही साधारणीकरण है।

मधुमती भूमिका में पहुँचा कवि का मन जिस समय उल्लसित होकर नवीन सृष्टि का आरंभ करता है और अपनी ही सृष्टि की सुंदरता पर मुग्ध होकर रीझता है, उस समय उसकी समस्त वृत्तियाँ एकतान, एकलय हो जाती हैं। इसी लिए उसकी रचना भावों का संगीत है। मन की इस एकविषयावगाहिनी निरोधावस्था से चित् (ज्ञान) का आवरण भंग होता है; अर्थात् मन जब विक्षिप्त होकर इधर-उधर अनेक विषयों पर दौड़ता है

तब अपनी इस विक्षेप क्रिया से वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव चित् पर एक प्रकार का पर्दा सा डालता रहता है। पर जहाँ उसकी यह विक्षेपावस्था निरोधावस्था में बदली कि उसका आवरण डालना बंद हो जाता है और चित् निरावरण होकर चमकने लगता है। इस अवस्था में वह अनुभविता और अनुभाव्य अथवा द्रष्टा और दृश्य दोनों है। इसी लिए निरावरण चित् को आनंद-स्वरूप का अनुभव करने के लिए किसी दूसरे अनुभविता की आवश्य-कता नहीं होती। आत्मा के इसी **आनंद-स्वरूप** को **रस** कहते हैं। कवि के समान हृदयालु सहृदय भी जब उसी भूमिका का स्पर्श करता है तब उसकी भी वृत्तियाँ एकतान, एकलय हो जाती हैं (जिसके लिए पारिभाषिक शब्द साधारणीकरण है) और उसे भी वही संगीत सुनाई पड़ने लगता है—उसी आनंद की झलक मिलती है। इस साधारण अवस्था में पहुँचने की शक्ति उसे कवि की दृष्टि की विशेषता और कुछ अपने संस्कार दोनों ही यथातथ्य प्रदान करते हैं। कवि और सहृदय दोनों साधारण होते हुए भी भिन्न हैं। एक की प्रतिभा उत्पादक और दूसरे की ग्राहक होती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने पहली को प्रख्या और दूसरी को उपाख्या कहा है। राजशेखर ने एक को कारयित्री प्रतिभा और दूसरी को भावयित्री प्रतिभा नाम दिया है।

भिन्न भिन्न सहृदय कवि अपनी शक्ति के अनुसार कभी प्रतिपाद्य विषयों की, कभी प्रतिपादक शब्दों की अथवा कभी दोनों की नई से नई उद्भावना या भावना करके उसी आनंद

की उपलब्धि किया या कराया करते हैं, पर सबके प्रयास का फल एक समान नहीं होता। मात्रा-भेद से किसी को आनंद, किसी को आनंदाभास और किसी को चमत्कार मात्र नसीब होता है।"

ऊपर तो रस के परिपाक की बात कही गई है, परंतु कभी कभी ऐसा भी होता है कि रस परिपक्व अवस्था तक नहीं पहुँचता, जिसमें उसका आस्वादन होता है। चार अवस्थाओं में यह बात होती है। एक तो जब विभाव, अनुभाव आदि अन्य सामग्री के प्रबल होने के कारण भाव अंकुरित होकर ही रह जाता है, आगे बढ़कर तीव्र नहीं होने पाता; दूसरे, जब एक भाव के उदय होते ही दूसरा भाव उदय होकर उससे प्रबल हो जाता है और उसे दबा लेता है; तीसरे, जब एक भाव मन को एक ओर खींचता है और दूसरा दूसरी ओर तथा दोनों में से कोई इतना प्रबल नहीं होता कि दूसरे को दबा सके; और चौथे, जब कई भाव एक ही साथ उदय होते हैं और अपने से पूर्व के भाव को दबाते चलते हैं। पहली अवस्था को भावोदय, दूसरी को भावशांति, तीसरी को भावसंधि और चौथी को भावशबलता कहते हैं। यद्यपि जहाँ रस पूर्णता को नहीं पहुँच पाता वहाँ रस मानना युक्तियुक्त नहीं है, तथापि रूढ़ि के अनुसार ऐसे स्थल भी सरस ही माने जाते हैं।

अपूर्ण रस

कुछ रस स्वभाव ही से आपस में विरोधी माने गये हैं। करुण बीभत्स रौद्र वीर और भयानक, शृंगार के; करुण और

भयानक, हास्य के; हास्य और शृंगार, करुण के; हास्य शृंगार, भयानक और अद्भुत, रौद्र के; भयानक और शांत, वीर के;

रस-विरोध

शृंगार वीर रौद्र हास्य और शांत, भयानक के; शृंगार बीभत्स का, रौद्र अद्भुत का और शृंगार वीर रौद्र हास्य और भयानक, शांत रस के विरोधी माने जाते हैं। जहाँ शृंगार की चर्चा हो वहाँ जुगुप्सा, क्रोध, शोक और भय के भावों की चर्चा रंग में भंग करना ही मानी जायगी। इसी प्रकार शोक के समय हँसी-मजाक अथवा प्रेम का राग अलापना तथा हँसी के अवसर पर शोक और भय करना ही अवसरोचित नहीं है। ऐसे ही औरों के विषय में समझना चाहिए।

परंतु प्रत्येक दशा में विरोधी रसों का एक साथ वर्णन सदोष नहीं होता। दोष तभी होगा जब विरोधी रस या तो एक ही आलंबन या एक ही आश्रय से संबंध रखते हों या इतने सन्निकट हों कि एक दूसरे के ज्ञान को बाधित करे। पहले दो को स्थिति-विरोध कहते हैं और तीसरे को ज्ञान-विरोध। विरोधी रसों को अलग अलग आलंबनों अथवा आश्रयों में स्थित कर देने से स्थिति-विरोध का निराकरण हो जाता है और अविरोधी रस को विरोधी रसों के मध्य में रखने से ज्ञान-विरोध का।

यहाँ तक रसों का विवेचन हो चुका। सारांश यह कि सब प्रकार के काव्य की आत्मा रस है। बिना आत्मा के शरीर निर्जीव होकर त्याज्य हो जाता है। पर आत्मा के रहते हुए भी

शरीर के बाह्य सौंदर्य को बढ़ाने और आकर्षक बनाने की आवश्यकता रहती है। इसी का तात्पर्य काव्य के भाव-पक्ष और

शैली का रूप

कला-पक्ष से है। दोनों का नित्य संबंध है, जो सदा अक्षुण्ण बना रहता है। जहाँ एक का दूसरे से बिछोह हुआ वहाँ काव्य की अंतरात्मा को अपने को प्रकट करने का सामर्थ्य नहीं रह जाता। तात्पर्य यह है कि कवि या लेखक की सामग्री चाहे कैसी ही अच्छी क्यों न हो और उसके भाव, विचार तथा कल्पनाएँ चाहे कितनी ही परिपक्व और सुसंस्कृत क्यों न हों, जब तक उसकी कृति में रूप-सौंदर्य नहीं आयगा, जब तक वह अपनी सामग्री को ऐसा रूप न दे सकेगा जो अनुक्रम, सौष्ठव और प्रभावोत्पादकता के सिद्धांतों के अनुकूल हो, तब तक उसकी कृति काव्य न कहला सकेगी। इसी लिए कुछ विद्वानों का मत है कि बुद्धि-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और भाव-तत्त्व के अतिरिक्त एक चौथा तत्त्व भी है जिसे शैली या रूप-चमत्कार कह सकते हैं। इसी बात को लेकर महाकवि कालिदास ने रघुवंश के आदि में वंदना करते हुए कहा है—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वंदे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

अर्थात् वाक् और अर्थ की भाँति संपृक्त जगत् के माता-पिता पार्वती और परमेश्वर की वंदना इसलिए करता हूँ कि जिसमें वाक और अर्थ की प्रतिपत्ति हो। यहाँ वाक् और

अर्थ से वही प्रयोजन है जो कला-पक्ष तथा भाव-पक्ष अथवा भाव-शैली से है। इसी लिए रचना-चमत्कार को शैली का नाम दिया जाता है।

किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है। एक विद्वान् के मत से शैली विचारों का परिधान है। पर यह ठीक नहीं ; क्योंकि परिधान का शरीर से अलग और निज का अस्तित्व होता है, उसकी उस व्यक्ति से भिन्न स्थिति होती है। जैसे मनुष्य से उसके विचार अलग नहीं हो सकते, वैसे ही उन विचारों को व्यंजित करने का ढंग भी उनसे अलग नहीं हो सकता। अतएव शैली को विचारों का परिधान न कहकर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ संगत होगा। अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा।

काव्य की अंतरात्मा का हम विशेष रूप से विवेचन कर चुके हैं। अब उसके बाह्य या प्रत्यक्ष रूप के विषय में भी कुछ विचार करना आवश्यक है; क्योंकि भाव, विचार और कल्पना यदि हमारे ही मन में उत्पन्न होकर लीन हो जायँ तो संसार को उनसे कोई लाभ न हो और हमारा जीवन व्यर्थ हो जाय। मनुष्य समाज में रहना चाहता है। वह उसका अंग है। उसी में उसके जीवन का कर्त्तव्य और साफल्य है। वह अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है और दूसरों के भावों, विचारों और कल्पनाओं

को जानना चाहता है। सारांश यह कि मनुष्य-समाज में भावों, विचारों और कल्पनाओं का विनिमय नित्य प्रति होता रहता है। भावों, विचारों और कल्पनाओं का यही विनिमय संसार के साहित्य का मूल है। इसी आधार पर साहित्य का प्रासाद खड़ा होता है। जिस जाति का यह प्रासाद जितना ही मनोहर, विस्तृत और भव्य होगा वह जाति उतनी ही उन्नत मानी जायगी। इसके अतिरिक्त हमें आपस के नित्य व्यवहार में कभी दूसरों को समझाना, कभी उन्हें अपने पक्ष में करना और कभी प्रसन्न करना पड़ता है। यदि वे शक्तियाँ अपने स्वाभाविक रूप में वर्तमान न हों तो मनुष्यों के सब काम रुक जाय। साहित्य-शास्त्र का काम इन्हीं को परिमार्जित और उत्तेजित करके उन्हें अधिक उपयोगी बनाना है। अतएव यह स्पष्ट हुआ कि भाव, विचार और कल्पना तो हममें नैसर्गिक अवस्था में वर्तमान रहती हैं; और साथ ही उन्हें व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी हममें रहती है। अब यदि उस शक्ति को बढ़ाकर, संस्कृत और उन्नत करके, हम उसका उपयोग कर सकें तो उन भावों, विचारों और कल्पनाओं के द्वारा हम संसार के ज्ञान-भांडार की वृद्धि करके उसका बहुत कुछ उपकार कर सकते हैं। इसी शक्ति को साहित्य में शैली कहते हैं।

हम कह चुके हैं कि मनुष्य को प्रायः दूसरों को समझाना, किसी कार्य में प्रवृत्त करना अथवा प्रसन्न करना पड़ता है। ये तीनों

काम मनुष्य की भिन्न भिन्न तीन मानसिक शक्तियों से संबंध रखते हैं। समझना या समझाना बुद्धि का काम है। प्रवृत्त होना या करना संकल्प का काम है और प्रसन्न करना या होना भावों का काम है। परंतु प्रवृत्त करने या होने में बुद्धि और भाव दोनों सहायक होते हैं। इन्हीं के प्रभाव से हम संकल्प-शक्ति को मनोनीत रूप देने में समर्थ होते हैं। बुद्धि की सहायता से हम किसी बात का वर्णन, कथन या प्रतिपादन करते हैं और भावों की सहायता से काव्यों की रचना कर मनुष्य का समस्त संसार से रागात्मक संबंध स्थापित करते हैं। इसलिए शैली की विशेषता इसी बात में होती है कि मनुष्य के ऊपर कहे हुए तीनों कामों को पूरा करने के लिए हम अपनी भाषा को—अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को—अधिक प्रभावशाली बना सकें। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम इस बात का विचार करें कि यह प्रभाव कैसे उत्पन्न हो सकता है।

शब्दों का महत्त्व

भाषा ऐसे सार्थक शब्द-समूहों का नाम है जो एक विशेष क्रम से व्यवस्थित होकर हमारे मन की बात दूसरे के मन तक पहुँचाने और उसके द्वारा उसे प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। अतएव भाषा का मूल आधार शब्द हैं जिन्हें उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूल तत्त्व समझना चाहिए। लेखकों या कवियों को शब्दों के चुनाव पर बहुत ध्यान देना चाहिए। उपयुक्त शब्दों का प्रयोग सबसे आवश्यक बात है; और यह

गुण प्रतिपादित करने में उन्हें दत्तचित्त रहना चाहिए। इस कार्य में स्मरण-शक्ति बहुत सहायता देती है। शब्दों के आधार पर ही उत्तम काव्य की रचना हो सकती है। इस नींव पर यह सुंदर प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। अतएव यह आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है कि कवि या लेखक का शब्द-भांडार बहुत प्रचुर हो और उसे इस बात का भली भाँति स्मरण रहे कि मेरे भांडार में कौन कौन से रत्न कहाँ रखे हैं जिसमें प्रयोजन पड़ते ही मैं रत्नों को निकाल सकूँ। ऐसा न हो कि उनको ढूँढ़ने में ही बहुत सा समय नष्ट करना पड़े और अंत में झूठे कांतिहीन रत्नों को इधर-उधर से मँगनी माँगकर अपना काम चलाना पड़े।

हमारे यहाँ शब्दों में शक्ति, गुण और वृत्ति ये तीन बातें मानी गई हैं, परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वयं शब्द कुछ भी सामर्थ्य नहीं रखते। सार्थक होने पर भी जब तक शब्द वाक्य में पिरोये नहीं जाते तब तक न तो उनकी शक्ति ही प्रादुर्भूत होती है, न उनके गुण ही स्पष्ट होते हैं और न वे किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने में ही समर्थ होते हैं। उनमें शक्ति या गुण आदि के अंतर्हित रहते हुए भी उनमें विशेषता, महत्त्व, सामर्थ्य या प्रभाव का प्रादुर्भाव केवल वाक्यों में सुचारु रूप से सजाये जाने पर ही होता है। अतएव हम वाक्यों के विचार के साथ ही इनका भी विचार करेंगे।

शैली के विवेचन में वाक्य का स्थान बड़े महत्त्व का है। रचना-शैली में इन्हीं पर निर्भर रहकर पूरा पूरा कौशल दिखाया जा सकता है और इसी में इनकी विशेषता अनुभूत हो सकती है। इस संबंध में सबसे पहली बात, जिस पर हमें विचार करना चाहिए, शब्दों का उपयुक्त प्रयोग है। जिस भाव या विचार को हम प्रकट करना चाहते हैं, ठीक उसी को प्रत्यक्ष करनेवाले शब्दों का हमें उपयोग करना चाहिए। बिना सोचे-समझे शब्दों का अनुपयुक्त प्रयोग वाक्यों की सुंदरता नष्ट करता और लेखक के शब्द-भांडार की अपूर्णता अथवा उसकी असावधानी प्रकट करता है। अतएव वाक्यों में प्रयोग करने के लिए शब्दों का चुनाव बड़े ध्यान और विवेचन से करना चाहिए।

वाक्यों की विशेषता

इसके अनंतर हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि वाक्यों की रचना किस प्रकार से हो। वैयाकरणों ने वाक्यों के अनेक प्रकार बताये हैं और उनकी रीतियों तथा शुद्धि आदि पर भी विचार किया है। पर हमें वैयाकरण की दृष्टि से वाक्यों पर विचार नहीं करना है। हमें तो यह देखना है कि हम किस प्रकार वाक्यों की रचना और प्रयोग करके अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रयोजन के लिए सबसे अधिक अच्छा वाक्य वह होता है जिसे हम वाक्योच्चयँ कह सकते हैं और जिसमें तब तक अर्थ स्पष्ट नहीं होता जब तक वह वाक्य समाप्त नहीं हो

१६

जाता। हम उदाहरण देकर यह बात स्पष्ट करेंगे। नीचे लिखा वाक्य इसका अच्छा उदाहरण है—

"चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें, हमारे सब कष्टों का अंत यदि किसी बात से हो सकता है तो वह केवल स्वराज्य से"।

इस वाक्य का प्रधान अंग "वह केवल स्वराज्य से हो सकता है" है, जो सबके अंत में आता है। इस अंतिम अंश में कर्ता "वह" है। पहले के जितने अंश हैं, वे अंतिम वाक्यांश के सहायक मात्र हैं। वे हमारे अर्थ या भाव की पुष्टि मात्र करते हैं और पढ़नेवाले या सुननेवाले में उत्कंठा उत्पन्न करके उसके ध्यान को अंत तक आकर्षित करते हुए उसमें एक प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं। यह पढ़ते ही कि "चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें" हम यह जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं कि लेखक या वक्ता क्या कहना चाहता है। दूसरे वाक्य को पढ़ते ही वह हमारी जिज्ञासा को संकुचित कर हमारा ध्यान एक मुख्य बात पर स्थिर करता हुआ मूल भाव को जानने के लिए हमारी उत्सुकता को विशेष जागरित कर देता है। अंतिम वाक्यांश को पढ़ते ही हमारा संतोष हो जाता है और लेखक का भाव हमारे मन पर स्पष्ट अंकित हो जाता है। ऐसे वाक्य पढ़नेवाले के ध्यान को आकर्षित करके उसे मुग्ध करने, उसकी जिज्ञासा को तीव्रता देने अथवा आवश्यक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

दूसरी बात, जो वाक्यों की रचना में ध्यान देने योग्य है शब्दों का संघटन तथा भाषा की प्रौढ़ता है। वाक्यों में इन

दोनों गुणों का होना भी आवश्यक है। यदि किसी वाक्य में संघटन का अभाव हो, यदि एक वाक्यांश कहकर उसे समझाने या स्पष्ट करने के लिए अनेक ऐसे छोटे छोटे शब्द-समूहों का प्रयोग किया जाय जो अधिकतर विशेषणात्मक हों, तो छोटे छोटे वाक्यांशों की भूलभुलैयाँ में मुख्य भाव प्रायः लुप्त सा हो जायगा; और वह वाक्य अपनी जटिलता के कारण पढ़नेवाले को निरुत्साहित कर उसकी जिज्ञासा मंद कर देगा तथा किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न न कर सकेगा। अतएव ऐसे वाक्यों के प्रयोग से बचना चाहिए। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वाक्योच्चय बहुत बड़े तथा लंबे न हों। उनके बहुत अधिक विस्तार से संघटनात्मक गुणों का नाश हो जाता है और वे मनोरंजक होने के बदले अरुचिकर हो जाते हैं। वाक्यों की लंबाई या विस्तार की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। यह तो लेखक के अभ्यास, कौशल और सौष्ठव-बुद्धि पर निर्भर है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि लेख या भाषण के विषय के आधार पर इस सीमा को निर्धारित करना उचित होगा। जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिए छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा वांछनीय है। सरल और सुबोध विषयों के लिए यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों तो उनसे उतनी हानि नहीं होती। कई लेखकों में यह प्रवृत्ति देखने में आती है कि वे जान-बूझकर अपने वाक्यों को विस्तृत और जटिल बनाते हैं और उन्हें अनावश्यक

वाक्यांशों से लादे चलते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पढ़नेवाले ऊब जाते हैं और प्रायः लेखक स्वयं यह बात भूल जाता है कि किस मुख्य भाव को लेकर मैंने अपना वाक्य आरंभ किया था। ऐसे वाक्य के समाप्त होते ही वह मुख्य भाव भूलकर और किसी दूसरे गौण भाव को लेकर आगे दौड़ता चलता है और अपने वाक्यों में परस्पर संबंध स्थापित करने की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता। इस भारी दोष से बचने ही में लाभ है।

जब किसी वाक्य के वाक्यांश एक से रूप और आकार के होते हैं, तब उन्हें समीकृत वाक्य कहते हैं। इन समीकृत वाक्यों की समरूपता या तो व्याकरण के अनुसार उनकी बनावट से होती है अथवा शब्दों के उच्चारण या अवधारण पर निर्भर रहती है। इन वाक्यांशों का अर्थ भिन्न होता है और शब्द भी प्रायः भिन्न ही होते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण देते हैं—

"चाहे हमारी निंदा हो चाहे स्तुति, चाहे हमारी आज ही मृत्यु हो चाहे हम अभी बरसों जियें, चाहे हमें लक्ष्मी स्वीकार करे चाहे हमारा सारा जीवन दारिद्र्यमय हो जाय, परंतु जो व्रत हमने धारण किया है, उससे हम कभी विचलित न होंगे।"

इस प्रकार के वाक्यों का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है। एक तो जब वाक्यों की शृंखला किसी एक ही प्रणाली पर बनाई जाती है, तब वह हमारी स्मरण-शक्ति को सहायता पहुँचाती है

और एक से वाक्यांशों की आवृत्ति मन को प्रभावित करती है; और जब हम यह जान लेते हैं कि भिन्न भिन्न वाक्यांशों में किस बात में समानता है तब हमें केवल उनकी विभिन्नता का ही ध्यान रखना आवश्यक होता है। प्रबंध-रचना का यह साधारण नियम है कि यदि दो वस्तुओं में समानता दिखाई जाय तो रचना में भी उनको समान ही स्थान मिलना चाहिए। समीकृत वाक्यों द्वारा रचना के इस सिद्धांत का पालन बड़ी सुगमता से हो सकता है।

समीकृत वाक्यों का दूसरा प्रभाव एक प्रकार का सुखद विस्मय उत्पन्न करना है। समरूप वाक्यों द्वारा भिन्न भाव प्रदर्शित करने से मन को आनंद प्राप्त होता है और कुछ कुछ संगीत के लय-सुर का सा अनुभव होने लगता है। जब एक वाक्यांश द्वारा भिन्न भिन्न परंतु साथ ही नवीन भाव का उद्बोधन कराया जाता है तब हमारे आनंद और विस्मय की मात्रा बढ़ जाती है। जैसे यदि हम यह कहें कि 'यह अशक्य तो है पर असंभव नहीं' अथवा 'यह कठिन तो है पर अशक्य नहीं' तो यहाँ 'अशक्य' और 'असंभव' तथा 'कठिन' और 'अशक्य' के संयोग से वाक्यांश में एक प्रकार की विशेषता आ जाती है जो हमारे आनंद और विस्मय का कारण होती है। इसी प्रकार यदि हम और परिमार्जित करके केवल दो शब्दों को वाक्यांशों में भिन्न स्थान दे दें, जैसे 'तुम्हारा कहना अविश्वसनीय है पर असत्य नहीं, और उसका कहना असत्य है पर अविश्व-

सनीय नहीं' तो वाक्यांशों की सुंदरता, आनंददायिता और विस्मयकारिता और भी बढ़ जाती है।

वाक्यों में सबसे अधिक ध्यान रखने की वस्तु अवधारण का संस्थान है; अर्थात् इस बात का ध्यान रखना कि वाक्य की किस बात पर हम अधिक जोर देना चाहते हैं और उसका प्रयोग कैसे होना चाहिए। साधारण नियम यह है कि जिस बात पर जोर देना हो वह वाक्य के आदि अथवा अंत में रखी जाय। आदि में रहने से वह पहले ही ध्यान आकर्षित करती है और अंत में रहने से स्मृति में अधिक काल तक ठहर सकती है। मध्य का स्थान साधारण और अप्रधान बातों के लिए छोड़ देना चाहिए। इस नियम का पालन प्रस्तावना या उपसंहार रूप में आये हुए वाक्यों में नहीं होना चाहिए। अवधारण को आदि या अंत में स्थान देने से वाक्यों में स्पष्टता आ जाती है और वे लालित्य गुण से संपन्न हो जाते हैं।

जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं, हमारे यहाँ शब्दों की शक्ति तीन प्रकार की मानी गई है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना।

भारतीय शैली के आधार

वास्तव में ये शब्दों की शक्तियाँ नहीं हैं, किंतु एक प्रकार से उनके अर्थों के भेद हैं। इस कारण इनका महत्त्व वाक्यों में ही देख पड़ता है। जब तक शब्द स्वतंत्र रहते हैं, अर्थात् किसी वाक्य या वाक्यांश के अंग नहीं बन जाते, तब तक उनका कोई निश्चित या सर्वसम्मत अर्थ ही लिया जाता है; परंतु वाक्यों में पिरोये जाने

पर उनका अर्थ अवस्थानुकूल वाच्य, लक्ष्य या व्यंग्य हो जाता है। जिन शब्दों का एक ही अर्थ होता है उनके संबंध में तो केवल लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का ही उपयोग देख पड़ता है; पर जहाँ एक शब्द के कई अर्थ होते हैं वहाँ अभिधा शक्ति द्वारा अभिप्रेत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। शब्द को सुनते ही यदि उसके अर्थ का बोध हो जाय तो यह उसकी अभिधा शक्ति का कार्य हुआ। पर शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं; इसलिए जिस शक्ति के कारण कोई शब्द किसी एक ही अर्थ को सूचित करता है उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। इसका निर्णय कि कहाँ किस शब्द का क्या अर्थ है, संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ-प्रकरण, प्रसंग, चिह्न, सामर्थ्य, औचित्य, देश-बल, काल-भेद और स्वर-भेद से किया जाता है। जैसे 'मरु में जीवन दूरि है' के कहने से मरुभूमि के कारण यहाँ 'जीवन' का अर्थ केवल 'पानी' ही लिया जा सकता है, दूसरा नहीं। अतएव यहाँ 'जीवन' का अर्थ 'पानी' उस शब्द की अभिधा शक्ति से लगाया गया। जहाँ शब्द के प्रधान या मुख्य अर्थ को छोड़कर किसी दूसरे अर्थ की इसलिए कल्पना करनी पड़ती है कि किसी वाक्य में उसकी संगति बैठे, वहाँ शब्द की लक्षणा शक्ति से काम लेना पड़ता है। जैसे—

अंग अंग नग जगमगत, दीप-शिखा सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजेरो गेह॥

यहाँ बढ़ाने का अर्थ 'वृद्धि करना' या 'अधिक करना' मानने से दोहे का भाव स्पष्ट नहीं होता; और 'दीया बढ़ाने' से मुहाविरे का अर्थ 'दीया बुझाना' करने से दोहे में चमत्कार आ जाता है। एक दूसरा उदाहरण देकर इस भाव को और भी स्पष्ट कर देना उचित होगा।

फली सकल मनकामना, लूट्यौ अगणित चैन।
आजु अचै हरि-रूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन॥

इस दोहे में फली, लूट्यौ, अचै और भये प्रफुल्लित—ये शब्द विचारणीय हैं। साधारणतः वृक्ष फलते हैं, भौतिक पदार्थ लूटे जा सकते हैं, पेय पदार्थ का आचमन किया जा सकता है और फूल प्रफुल्लित या विकसित होते हैं; पर यहाँ मनोकामना का फलना (पूर्ण होना), चैन का लूटना (उपभोग करना), हरि-रूप का अचवना (दर्शन करना) और नैन का प्रफुल्लित होना (देखना) कहा गया है। यहाँ ये सब शब्द अपनी लक्षणा शक्ति के कारण भिन्न भिन्न अर्थ देते हैं। इस शब्द-शक्ति के अनेक भेद और उपभेद माने गये हैं। विस्तार-भय से इनका वर्णन हमें यहाँ छोड़ना पड़ता है।

तीसरी शक्ति व्यंजना है जिससे शब्द या शब्द-समूह के वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है; अर्थात् जिससे साधारण को छोड़कर किसी विशेष अर्थ का बोध होता है। जैसे यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे से कहे कि 'तुम्हारे मुँह से शठता झलक रही है' और इसका उत्तर वह यह दे

कि 'मुझे आज ही जान पड़ा कि मेरा मुँह दर्पण है' तो इससे यह भाव निकला कि तुमने अपने मुँह का मेरे दर्पण-रूपी मुँह में प्रतिबिंब देखकर शठता की झलक देख ली ; इससे वास्तव में तुमने अपनी ही प्रतिच्छाया देखी है ; अर्थात् तुम्हीं शठ हो मैं नहीं। इसके भी अनेक भेद-उपभेद माने गये हैं।

हमारे शास्त्रियों ने यह निश्चय किया है कि सर्वोत्तम वाक्य वही है जिसमें व्यंग्यार्थ रहता है; क्योंकि सबसे अधिक चमत्कार इसी के द्वारा आ सकता है। पश्चिमी विद्वानों ने व्यंग्य को एक प्रकार का अलंकार माना है; और हमारे यहाँ तो इसके अनेक भेद तथा उपभेद करके इस अलंकार का बड़ा विस्तार किया गया है। सारांश यही है कि हमारे यहाँ शब्द की शक्तियों का विवरण देकर पहले उनको वाक्यों में विशेषता उत्पन्न करनेवाला माना है और फिर अलंकारों में उनकी गणना करके उन्हें रसों का उत्कर्ष बढ़ानेवाला कहा है। हमारे यहाँ काव्यों के अनेक गुण भी माने गये हैं और उन्हें "प्रधान रस का उत्कर्ष बढ़ानेवाले रस धर्म" कहा है। काव्यों में रसों की प्रधानता होने और उन्हीं के आधार पर समस्त साहित्यिक सृष्टि की रचना होने के कारण सब बातों में रस का संबंध हो जाता है। पर वास्तव में ये गुण शब्दों से और उनके द्वारा वाक्यों से संबंध रखते हैं।

यों तो हमारे शास्त्रियों ने अपनी विस्तारप्रियता और श्रेणी-विभाग की कुशलता के कारण कई गुण माने हैं। पर मुख्य गुण तीन ही कहे गये हैं; यथा—माधुर्य, ओज और प्रसाद। इन

तीनों गुणों को उत्पन्न करने के लिए शब्दों की बनावट के भी तीन प्रकार कहे गये हैं, जिन्हें वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ गुणों के अनुसार ही मधुरा, परुषा और प्रौढ़ा हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर पद या वाक्य रचना की भी तीन रीतियाँ वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली मानी गई हैं। इन रीतियों के नाम देशभागों के नाम पर हैं। इससे जान पड़ता है कि उन उन देश-भागों के कवियों ने एक एक ढंग का विशेष-रूप से अनुकरण किया था; अतएव उन्हीं के आधार पर ये नाम भी रख दिये गये हैं। माधुर्य गुण के लिए मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति, ओज गुण के लिए परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति तथा प्रसाद गुण के लिए प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति आवश्यक मानी गई है। शब्दों में किन किन वर्णों के प्रयोग से कौन कौन सी वृत्ति होती है और पदों या वाक्यों में समासों की न्यूनता या अधिकता के विचार से कौन सी रीति होती है, इसका भी विवेचन किया गया है। इन्हीं तीनों बातों का विवेचन हमारे भारतीय सिद्धांतों के अनुसार रचना-शैली में किया गया है। पर यहाँ यह बात न भूलनी चाहिए कि हमारा साहित्य-भांडार पद्य में है। गद्य का तो अभी आरंभिक काल ही समझना चाहिए। इसलिए गद्य की शैली के विचार से अभी हमारे यहाँ विवेचन ही नहीं हुआ है। अपना कोई विशेष ढंग न होने के कारण और अँग-रेजी का पठन-पाठन अधिक होने से हमारे गद्य पर अँगरेजी भाषा की गद्य-शैली का बहुत प्रभाव पड़ रहा है; और यह

एक प्रकार से अनिवार्य भी है। गुणों के संबंध में एक और बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है। रसों की प्रधानता के कारण हमारे शास्त्रियों ने यह भी बताया है कि माधुर्य गुण शृंगार, करुण और शांत को, ओज गुण वीर, बीभत्स और रौद्र रस को तथा प्रसाद गुण सब रसों को विशेष प्रकार से परिपुष्ट करता है। पर विशेष विशेष प्रसंगों के उपस्थित होने पर इनमें कुछ परिवर्तन भी हो जाता है। जैसे शृंगार रस का पोषक माधुर्य गुण माना गया है। पर यदि नायक धीरोदात्त या निशाचर हो, अथवा अवस्था-विशेष में क्रुद्ध या उत्तेजित हो गया हो, तो उसके कथन या भाषण में ओज गुण होना आवश्यक और आनंददायक होगा। इसी प्रकार रौद्र, वीर आदि रसों की परिपुष्टि के लिए गौड़ी रीति का अनुसरण वांछनीय कहा गया है। पर अभिनय में बड़े बड़े समासों की वाक्य-रचना से दर्शकों में अरुचि उत्पन्न होने की बहुत संभावना है। जिस बात के समझने में उन्हें कठिनता होगी, उससे चमत्कृत होकर अलौकिक आनंद का प्राप्त करना उनके लिए कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असंभव हो जायगा। ऐसे अवसरों पर नियत सिद्धांत के प्रतिकूल रचना करना कोई दोष नहीं माना जाता; बल्कि लेखक या कवि की कुशलता तथा विचक्षणता का ही द्योतक होता है।

हम शब्दों और वाक्यों के विषय में संक्षेप में लिख चुके हैं। अब पदों के संबंध में कुछ विवेचन करना आवश्यक है। परंतु जिस प्रकार वाक्यों के विचार के अनंतर गुण, रीति आदि

पर हमने विचार किया है, उसी प्रकार अलंकारों के संबंध में भी विवेचन करना आवश्यक है। जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौंदर्य की वृद्धि करते, उसका उत्कर्ष बढ़ाते और रस, भाव आदि को उत्तेजित करते हैं। इन्हें शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म कहा है; क्योंकि जैसे भूषणों के बिना भी शरीर की नैसर्गिक शोभा बनी रहती है, उसी प्रकार अलंकार के न रहने पर भी शब्द और अर्थ की सहज सुंदरता, मधुरता आदि बनी रहती है। हम पहले लिख चुके हैं कि वाक्यों की अंतरात्मा और बाह्यालंकारों में बड़ा भेद है। दोनों को एक मानना, अथवा एक को दूसरे का स्थानापन्न करना, काव्य के मर्म को न जानकर उसे नष्ट करना है। काव्यों में भाव, विचार और कल्पना उसकी अंतरात्मा के मुख्य स्वरूप कहे गये हैं; और वास्तव में काव्य की महत्ता इन्हीं के कारण प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करती है। अलंकार इस महत्ता को बढ़ा सकते हैं, उसे अधिक सुंदर और मनोहर बना सकते हैं; परंतु भाव, विचार तथा कल्पना का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते और न उनके आधिपत्य का विनाश करके उनके स्थान के अधिकारी हो सकते हैं। हम भावों, विचारों तथा कल्पनाओं को काव्य-राज्य के अधिकारी कह सकते हैं और अलंकारों को उनके पारिपार्श्विक का स्थान दे सकते हैं।

अलंकारों का स्थान

हम कह चुके हैं कि अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। इसी लिए अलंकारों के दो भेद किये गये हैं—एक शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार। यदि कहीं कहीं एक ही साथ दोनों प्रकार के अलंकार आ जाते हैं, तो उनको उभयालंकार की संज्ञा दी जाती है। शब्दालंकार पाँच प्रकार के माने जाते हैं; अर्थात् वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। चित्रालंकार में शब्दों के निबंधन से भिन्न भिन्न प्रकार के चित्र बनाये जाते हैं। केवल शब्दों को किसी वांछित क्रम से बैठाना ही इस अलंकार का मुख्य कर्म है। इसमें एक प्रकार का मानसिक कौशल दिखाना पड़ता है। प्रायः ऐसा करने में शब्दों को बहुत कुछ तोड़ने-मरोड़ने की भी आवश्यकता पड़ती है; अतएव इसमें स्वाभाविकता का बहुत कुछ नाश हो जाता है। श्लेष और यमक में बहुत थोड़ा भेद है। जहाँ एक शब्द अनेक अर्थ दे वहाँ श्लेष और एक शब्द अनेक बार आवे और साथ ही भिन्न भिन्न अर्थ भी दे वहाँ यमक अलंकार होता है। अनुप्रास में स्वरों के भिन्न रहते हुए भी सदृश वर्णों का कई बार प्रयोग होता है। कहीं व्यंजन आपस में बार बार मिल जाते हैं, कहीं व्यंजनों का एक प्रकार से एक बार साम्य अथवा अनेक प्रकार से कई बार साम्य होता है। पद के अंत में आनेवाले सस्वर व्यंजनों का साम्य भी अनुप्रास के ही अंतर्गत माना जाता है। जहाँ एक अभिप्राय से कहे हुए वाक्य को किसी दूसरे अर्थ में लगा दिया जाता है वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। इन सब

के बड़े ही सूक्ष्म और अनेक उपभेद किये गये हैं। पर इनका तत्त्व यही है कि वर्णों की मैत्री, संयोग या आवृत्ति के कारण शब्दों में जो चमत्कार आ जाता है, उसे ही अलंकार माना गया है। अर्थालंकारों की संख्या का तो ठिकाना ही नहीं है। ये अलंकार कल्पना के द्वारा बुद्धि को प्रभावित करते हैं, अतएव इनके सूक्ष्म विचार में बुद्धि के तत्त्वों का विचार आवश्यक हो जाता है। हमारी प्रज्ञात्मक शक्तियाँ तीन भिन्न भिन्न रूपों से हमें प्रभावित करती हैं; अर्थात् साम्य, विरोध और सान्निध्य से। जब समान पदार्थ हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, तब उनकी समानता का भाव हमारे मन पर अंकित हो जाता है। इस प्रकार जब हम पदार्थों में विभेद देखते हैं, तब उनका पारस्परिक विरोध या अपेक्षता हमारे मन पर जम जाती है। जब हम एक पदार्थ को दूसरे के अनंतर और दूसरे को तीसरे के अनंतर देखते हैं, अथवा दो का अभ्युदय एक साथ देखते हैं, तब हमारी मानसिक शक्ति बिना किसी प्रकार के व्यतिक्रम के हमारे मस्तिष्क पर अपनी छाप जमाती है और काम पड़ने पर स्मरण-शक्ति की सहायता से हम उन्हें पुनः यथारूप उपस्थित करने में समर्थ होते हैं; अथवा जब दो पदार्थ एक दूसरे के अनंतर हमारे ध्यान में अवस्थित होते हैं या उनमें से जब एक ही पदार्थ कभी समता और कभी विरोध का भाव व्यक्त करता है तब हम अपने मन में उसका संबंध स्थापित करते हैं और एक का स्मरण होते ही दूसरा आपसे आप हमारे

ध्यान में आ जाता है। इसे ही सान्निध्य या तटस्थता कहते हैं।

हमारे यहाँ अलंकारों की संख्या का ठिकाना नहीं है। उन्हें श्रेणीबद्ध रखने का भी कोई उद्योग नहीं किया गया है। इससे बिना आधार के चलने के कारण उनकी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। यहाँ इस बात का ध्यान दिला देना आवश्यक है कि अलंकार यथार्थ में वर्णन करने की एक शैली है, वर्णन का विषय नहीं है। अतएव वर्णित विषयों के आधार पर अलंकारों की रचना करके उनकी संख्या बढ़ाना उचित नहीं है। स्वभावोक्ति और उदात्त अलंकारों का संबंध वर्णित विषय से होने के कारण इनकी गणना अलंकारों में नहीं होनी चाहिए। हमारे यहाँ कुछ लोगों ने अलंकारों की संख्या घटाकर ६१ भी मानी है; पर इनमें भी एक अलंकार के अनेक भेद तथा उपभेद आ मिले हैं। साम्य, विरोध और सान्निध्य या तटस्थता के विचार से हम इन अलंकारों की तीन श्रेणियाँ बना सकते हैं और उनमें के उपभेदों को घटाकर अलंकारों की संख्या नियत कर सकते हैं।

अब हमको केवल पद-विन्यास के संबंध में कुछ विचार करना है। पदों से हमारा तात्पर्य वाक्यों के समूहों से है।

पद-विन्यास

किसी विषय पर कोई ग्रंथ लिखने का विचार करते ही पहले उसके मुख्य मुख्य विभाग कर लिये जाते हैं जो आगे चलकर परिच्छेदों या

अध्यायों के रूप में प्रकट होते हैं। एक एक अध्याय में मुख्य विषय के प्रधान प्रधान अंशों का प्रतिपादन किया जाता है। इस संबंध में ध्यान रखने की बात इतनी ही है कि परिच्छेदों का निश्चय इस प्रकार से किया जाय कि मुख्य विषय की प्रधान प्रधान बातें एक परिच्छेद में आ जायँ; उनकी आवृत्ति करने की आवश्यकता न पड़े और न वे एक दूसरे को अतिव्याप्त करें। ऐसा कर लेने से सब परिच्छेद एक दूसरे से संबद्ध जान पड़ेंगे और प्रतिपादित विषय को हृदयंगम करने में सुविधा होगी। परिच्छेदों के प्रधान विषयों को अनेक उपभागों में बाँटकर उन्हें सुव्यवस्थित करना पड़ता है जिसमें पदों की एक पूर्ण शृंखला सी बन जाय। इस शृंखला की एक कड़ी के टूट जाने से सारी शृंखला अव्यवस्थित और असंबद्ध हो सकती है। पदों में इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि उनमें किसी एक बात का प्रतिपादन किया जाय और उस पद के समस्त वाक्य एक दूसरे से इस भाँति मिले रहें कि यदि बीच में से कोई वाक्य निकाल दिया जाय तो वाक्यों की स्पष्टता नष्ट होकर उनकी शिथिलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इस मुख्य सिद्धांत को सामने रखकर पदों की रचना आरंभ करनी चाहिए। इस संबंध में दो बातें विशेष गौरव की हैं—एक तो वाक्यों का एक दूसरे से संबंध तथा संक्रमण; और दूसरे, वाक्यों के भावों में क्रमशः विकास या परिवर्तन। वाक्यों के संबंध और संक्रमण में उच्छृंखलता को बचाकर उन्हें इस प्रकार से संघटित करना

संगत, व्यापक और सुव्यवस्थित जान पड़ते हैं। हमारे यहाँ आचार्यों ने इन गुणों और शब्दार्थालंकारों को रसों का परिपोषक तथा उत्कर्षसाधक मानकर इस विभाग को सर्वथा संगत, व्यवस्थित और वैज्ञानिक बना दिया है। अतएव हमारे यहाँ काव्य की अंतरात्मा के अंतर्गत भावों को मुख्य स्थान देकर रसों को जो उसका मूल आधार बना दिया है, उससे इस विषय की विवेचना बड़ी ही सुव्यवस्थित और सुंदर हो गई है। इन गुणों के विषय में हम पहले ही विशेष रूप से लिख चुके हैं। अतएव यहाँ उसके उद्धरण की आवश्यकता नहीं है।

वृत्त

शैली के संबंध में हमें केवल अब एक बात की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता रह गई है। कविता के विवेचन में गद्य और पद्य के संबंध में विचार करते हुए हम इस बात पर जोर दे चुके हैं कि गद्य और पद्य का मुख्य भेद वृत्त पर निर्भर रहता है। काव्य-कला और संगीत-कला के पारस्परिक संबंध का भी हम उल्लेख कर चुके हैं। इस संबंध को सुदृढ़ और स्पष्ट करने के लिए ही कविता में वृत्त की आवश्यकता होती है। सच बात तो यह है कि ईश्वर की समस्त सृष्टि, प्रकृति का समस्त साम्राज्य, संगीत-मय है। हम जिधर आँख उठाकर देखते और कान लगाकर सुनते हैं, उधर ही हमें सौंदर्य और संगीत स्पष्ट देख और सुन पड़ता है। जब हम यह समझ चुके हैं कि कविता समस्त सृष्टि से हमारा रागात्मक संबंध स्थापित करती और उसे सुदृढ़ बनाये

रहती है, तब इस बात का प्रतिपादन करने की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई कि संगीत उस कविता को कितना मधुर, कोमल, मनोमोहक और आह्लादकारी बना देता है। इसी दृष्टि से हमारे आचार्यों ने कविता के इस अंग पर विशेष विचार किया है और इसका, आवश्यकता से अधिक, विस्तार भी किया है। संगीत-कला का आधार सुर और लय है। अतएव काव्य में सुर और लय उत्पन्न करने और भिन्न भिन्न सुरों और लयों में परस्पर मित्रता का संबंध स्थापित करने के लिए हमारे यहाँ विशेष रूप से विवेचन किया गया है। हम ऊपर वृत्तियों तथा शब्दालंकारों का उल्लेख कर चुके हैं। एक प्रकार से ये दोनों बातें भी संगीतात्मक गुण की उत्पादक और उत्कर्षसाधक हैं। परंतु पिंगल-शास्त्र में यह विषय बड़े विस्तार के साथ लिखा गया है। इसका मूल आधार वर्णों की लघुता और गुरुता तथा उनका पारस्परिक संयोग अथवा उनकी संख्या है। इस दृष्टि से हमारे यहाँ दो प्रकार के वृत्त माने गये हैं—एक मात्रा-मूलक और दूसरे वर्णमूलक। मात्रामूलक वृत्तों में लघु गुरु के विचार से मात्राओं की संख्याएँ नियत रहती हैं और इनकी गणना को सुगम करने तथा मात्राओं का तारतम्य व्यवस्थित करने के लिए गणों की कल्पना की गई है। वर्णमूलक छंदों के प्रत्येक चरण के वर्णों की संख्या नियत रहती है। दोनों प्रकार के छंदों में जिन स्थानों पर वर्णों को उच्चारण करने में जिह्वा को रुकावट या अवरोध होता है, अथवा जहाँ विश्राम की आवश्य-

कता होती है, उन स्थानों का भी विवेचन करके उन्हें नियत कर दिया है। ऐसे स्थानों को यति, विश्राम या विराम कहते हैं। यहाँ इस संबंध में विस्तारपूर्वक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

उपसंहार

अंत में इस शैली-विवेचन को समाप्त करते हुए हम यह कह देना आवश्यक तथा उचित समझते हैं कि आज-कल हमारे यहाँ शैली-विवेचन के संबंध में विशेषकर इसी विषय पर विचार किया जाता है कि अपने भावों और विचारों को प्रकट करने में हम अपने यहाँ के ठेठ, संस्कृत या विदेशी शब्दों का कहाँ तक प्रयोग करते हैं। मानों शब्दों की व्युत्पत्ति ही सबसे मुख्य बात है। जब दो जातियों का सम्मिलन होता है तब उनमें परस्पर भावों, विचारों तथा शब्दों का विनिमय होता ही है। यही नहीं, बल्कि एक जाति की प्रकृति, रहन-सहन, सद्‌गुणों तथा दुर्गुणों तक का भी दूसरी जाति पर प्रभाव पड़ता है। वे इन बातों से लाख उद्योग करने पर भी बच नहीं सकतीं। जब यह अटल नियम सब अवस्थाओं में लग सकता है, निरंतर लगता आया है और लगता रहेगा, तब इस पर इतना आगा-पीछा करने की क्या आवश्यकता है? इस संबंध में जो कुछ विचार करने तथा ध्यान में रखने की बात है वह यही है कि जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल

जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर हम उनके पूर्व रूप-रंग, आकार-प्रकार, को स्थायी बनाये रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनको स्वीकार करने में सदा अड़चन रहेगी। हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम उन्हें अपने शब्द-कुल में पूर्णतया सम्मिलित करके बिलकुल अपना बना लें। हमारी शक्ति, हमारी भाषा की शक्ति, इसी में है कि हम उन्हें अपने रंग में रँगकर ऐसा बना लें कि फिर उनमें विदेशीपन की झलक भी न रह जाय। यह हमारे लिए कोई नया काम नहीं होगा। बहुत वर्षों से—नहीं अनेक शताब्दियों से—हम इस प्रकार की विजय करते आये हैं और अब हमें इसमें हिचकिचाने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरी बात, जिसपर हम ध्यान दिलाना चाहते हैं, यह भ्रमात्मक विश्वास है कि शैली की कठिनता या सरलता शब्दों के प्रयोग पर निर्भर रहती है। भाषा की कठिनता या सरलता केवल शब्दों की तत्समता या तद्भवता पर निर्भर नहीं रहती। विचारों की गूढ़ता, विषय-प्रतिपादन की गंभीरता, मुहावरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना और वाक्यों की जटिलता किसी भाषा को कठिन तथा इसके विपरीत गुणों की स्थिति ही उसे सरल बनाती है। रचना-शैली में यह बात सदा ध्यान में रखना आवश्यक है।